प. पू. न्याय विशारद आचार्यदेव श्रीमद् विजय
भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा

वीर संवत
२५४५

विमोचन पर्व

विक्रम संवत
२०७५

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर,
सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा का ८४ वा जन्मदिन
अषाढ वद-२, दि. १९-०७-२०१९, शुक्रवार

₹ - १००/-

प्रकाशक
दिव्यदर्शन ट्रस्ट

नकल
१०००

प्राप्तिस्थान

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
कुमारपाळभाई वी. शाह
39, कलिकुंड सोसायटी, जि. अहमदाबाद - 387810
O : 02714 - 225482
www.jainonline.org

कर्णावती ब्रश
रूपेशभाई वोरा
82, फतेहपुरा गाँव, उमंग म्युनिसिपल स्कूल के सामने,
पालडी, अहमदाबाद - 380 007 M : 95861 23446

उर्मिलभाई शाह
D/2/3, नूतनजीवन को.हा.सो.,
कृपानगर, ईर्ला, विले पार्ला (वेस्ट), मुंबई - 56.
M : 9820527710

डिजाईन	अनुवाद	कम्पोझ	प्रिन्टिंग
हार्दिक कापडिया	आशिष शाह	निखिल पटेल	पारस प्रिन्टर्स
(99302 02335)	(79906 42294)	(99785 54500)	(98690 08907)

अविरत आशिषवर्षा

परम पूज्य सिद्धान्त महोदधि आचार्यदेव

श्रीमद् विजय प्रेम सूरीश्वरजी महाराजा

परम पूज्य न्याय विशारद आचार्यदेव

श्रीमद् विजय भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर, सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव

श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा

सौजन्य

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर,
सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव

श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा के
८४ वे जन्मदिन निमित्त...

मातुश्री नाजुदेवी
स्वर्गीय पिताश्री मोतीलालजी पालरेचा (जैन)
मोकलसर (राजस्थान), (निवास : भिवंडी – महाराष्ट्र)

कलम से निकला अमृत...

परम पूज्य न्यायविशारद गुरुदेवश्री भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा का साहित्य, ऐसा है जैसे मिष्टान्न के साथ दी गई औषधि हो !

गुरुदेवश्री 'परमतेज' एवं 'उच्च प्रकाशना पंथे' समान तत्त्वरस से भरपूर इन्जेक्शन-औषधि देने में तो समर्थ थे ही, साथ ही, समरादित्य, सीताजी आदि कथानक द्वारा मिष्टान्न देने में भी कुशल थे !

गुरुदेवश्री की बातों में विशेषता तो यही रहती थी कि मिष्टान्न से अधिक 'कद' औषधि का रहता !

रुक्मी राजा, अनाथी मुनि, तरंगवती, सुलसा, अंजना, सीताजी... आदि अनेकविध कथाओं के माध्यम से गुरुदेवश्री ने, हमारे मुख से 'अद्‌भुत' शब्द निकल पड़े, इस प्रकार मनमोहक तत्त्वचिंतन का निरूपण किया है।

सत्त्व ! कामलता के जीवनचरित्र के आधार पर इस पुस्तक का आलेखन हुआ है। कामलता के जीवन में विभिन्न दौर में जीवन में कहाँ-कहाँ और कैसे सत्त्व को बनाए रखें; यह बातें गुरुदेवश्री ने अति रोचक पदार्थों द्वारा समझायी है।

कामलता के जीवन पर आधारित, प्रकाशित किये गये अनेक पुस्तक-कृतियाँ पढ़ने-देखने का अवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु गुरुदेवश्री ने जैसी तत्त्वदृष्टि से संपूर्ण जीवनचरित्र देखा है और तत्त्व-अमृत कलम से पुस्तक में तात्त्विक आलेखन किया है, वह देखते हुए गुरुदेवश्री की तत्त्वोन्मेष प्रज्ञा के आगे मस्तिष्क झुक जाता है।

'दिव्यदर्शन' साप्ताहिक में क्रमबद्ध प्रकाशित किया गया कामलता चरित्र अब नये नाम, नये रूप एवं नये आकार के सहित स्वतंत्र पुस्तक के स्वरूप प्रकाशित हो रहा है !

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर, सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय **जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा** के जन्मोत्सव के भाग रूप पूज्य गुरुदेवश्री के पुस्तकों पर ओपन बुक एक्झाम का आयोजन हो रहा है। गुजराती और हिन्दी से भी आगे बढ़कर अब अंग्रेजी भाषा में भी पूज्य गुरुदेवश्री का साहित्य प्रकाशित हो रहा है, यह बात आनंददायी है।

लगातार छठे साल ओपन बुक एक्झाम के आयोजन में इस वर्ष **सत्त्व** पुस्तक प्रकाशित हुआ है। तत्त्वजिज्ञासु आत्मा ऐसा तत्त्वसमृद्ध साहित्य का पठन-मनन कर आत्मविशुद्धि प्राप्त करें, यही मंगल कामना।

लि.
कुमारपाल वी. शाह
कलिकुंड, धोलका

युग परिवर्तक

सदियों में कभी-कभार ही ऐसे कोई पुरुष अवतरित होते हैं, जिनकी सिद्धि के मधुर परिणाम सदियों तक लोगों को याद रहेंगे।

परम पूज्य वर्धमान तपोनिधि,

न्याय विशारद, आचार्यदेव श्रीमद् विजय

भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा !

जैनधर्म जब १९वीं सदी से २० सदी में आगे बढ़ रहा था, तब इन युगपुरुष ने युग परिवर्तन का शंखनाद कर एक नयी क्रांति लायी । २०वीं सदी के फास्ट ट्रेक पर दौड़ती-भागती दुनिया को एक क्षण के लिए स्थगित कर दे, ऐसा एक महा सिंहनाद किया ।

इनका संसारी नाम कांति था । इंग्लेन्ड में G.D.A. (C.A. समान ही) डिग्री फर्स्ट क्लास पास करने के बाद इन्होंने २२ वर्ष की उम्र में सगे भाई पोपट के साथ जैनदीक्षा स्वीकार की ।

जैनधर्म की कठिन और कठोरतम साधना का पालन करने के साथ-साथ सघन शास्त्राभ्यास किया । जैनागमों के साथ-साथ अन्यधर्मों का तलस्पर्शी अवगाहन भी किया । अभ्यास हेतु ज्यादा से ज्यादा समय मिले इसलिए ये महापुरुष छट्ठ के पारणे छट्ठ (यानि हर तीसरे दिन मात्र एक बार भोजन) करते थे !

अपने गुरुदेव पू. श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराज के मंगल आशीर्वाद लेकर, **वि.सं. २००५** में मुंबई पधारें । इनके प्रवचनों ने युवकों पर जादुई असर किया। मोह-माया की नगरी के भोग-विलासी श्रीमंतों के घर के लोगों को इनका एक प्रवचन वैराग्य में डूबों देता । जिस समय दीक्षा होना दुष्कर गिना जाता था, उस २०वीं सदी के पहले ही दशक में इन युगपुरुष ने परिवर्तन का महायज्ञ प्रारंभ कर दिया । मात्र पाँच वर्ष में ३५ युवक इनके शिष्य बनें, और जब इन महान युगपुरुष ने देहत्याग किया, तब २५० से ज्यादा सुयोग्य शिष्य के गुरुपद पर बिराजमान थे !

अपने प्रवचन से इन्होंने सदा ही श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध किया । **वि.सं. २००८** दिव्यदर्शन साप्ताहिक पत्र शुरू करके वाचकों के हृदय तक जैन तत्त्वज्ञान सरलतापूर्वक पहुँचाने का भगीरथ कार्य किया । यह साप्ताहिक पत्र ४२ वर्षों तक चला। जिसका समग्र संकलन 'भुवनभानु एन्साइक्लोपीडिया' के नूतन संस्करण में संमिलित किया गया है ।

वि.सं. २०११ वर्ष के दरमियान जब पूना में थे, तब मोरारजी देसाई की सरकार में बालदीक्षा के विरोध में प्रस्ताव चालु हुआ, तब तत्काल ही मोरारजी देसाई से मिलकर जैनदीक्षा का स्वरूप और उपयोगिता समझाकर मोरारजी को भी बालदीक्षा के समर्थक बना दिये ! अपनी तार्किकता, विद्वत्ता और पुण्य का प्रताप दिखाया । बालदीक्षा करनी चाहिये या नहीं ? यह फैंसला जब जनमत पे सौंपा गया, तब इस युगपुरुष ने अपनी असरकारक जबान और वेधक लेखनी के माध्यम से बालदीक्षा के समर्थन में जबरदस्त माहौल खड़ा किया। उसका परिणाम? बालदीक्षा के विरोध में ५०,००० मत भी नहीं थे, जबकि समर्थन में ३,००,००० से भी ज्यादा मत थे।

संयमित जीवन, जिनाज्ञा को समर्पित वर्तन, अनेकों को संयम देने के साथ-साथ उन शिष्यों का ध्यान रखना, प्रवचन, लेखन, चिंतन, वगैरह अनेक कार्यों की व्यस्तता के बावजूद भी जन-समाज को इन युगपुरुष ने कभी नजरअंदाज नहीं किया। आज-कल के युवकों को धर्माभिमुख बनकर संतोषी और सुखी जीवने कैसे जी सके? इसके लिए उन्होंने एक मौलिक प्रयोग भी किया। जिसका नाम है : शिबिर। आज जो युवक धर्म के प्रति श्रद्धालु और संसार के प्रति संतोषी-सुखी दिखता है, उसमें शिबिर का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

१९वीं शताब्दी के आखरी दशक में दीक्षा स्वीकार कर इस युगपुरुष ने २०वीं सदी के प्रथम दशक में जो परिवर्तन की क्रांति सृजन किया उसका वर्णन शब्दों में करना तो अन्याय ही होगा !

उनके पुरुषार्थ को देखकर ऐसा कह सकते है : उन्होंने एक जीवन में अनेक जिंदगी जी ली थी !

उनकी सिद्धि को देखकर ऐसा कह सकते है : वे 'जेक ओफ ओल' नहीं, पर 'मास्टर ओफ ओल' थे ।

अनुक्रमणिका

१	कामलता की करुण कथनी	१
२	राजहत्या	७
३	पतिमृत्यु	१७
४	बूड रहा है! : लोभनिग्रह	२६
५	वैश्या के घर अधःपतन	४०
६	सत्त्वहीनता = मुडदाल मन !	४६
७	भ्रष्टता की हद पार	७२
८	पुत्र की पहचान	८१
९	उत्तम कुल का प्रभाव	८७
१०	आत्महत्या !!!	९४
११	प्रतिक्रमण के लाभ	१००
१२	कामलता का बचाव	११७
१३	पाँच कारण	१४९
१४	रहस्यभेद	१७६
१५	कामलता का उद्धार	१८८

१. कामलता की करुण कथनी

जीव का अनादि का अभ्यास आहार, संसारासक्ति, प्रमादवृत्ति, स्वार्थपूर्ति एवं क्रोधादि कषाय का रहा है, अत: उन तमाम संसारवृत्तियों का सामना करना कठीन तो लगेगा ही, परंतु आंतरिक सत्त्व को प्रगट करते हुए यदि थोडा सा भी मन मक्कम बनाया जाये, तो फिर प्रगति तय ही समझो।

बस एकबार एक प्रसंग पर मक्कम हो कर सत्त्व जागृत किया, तो पुन: सत्त्व जागृत करने का मन अवश्य होगा, हिंमत अवश्य होगी।

मन की दशा भी ऐसी है कि यदि उसे विषयों में लालायित होने की स्थिति में रखा, तो आगे भी आसक्ति बढती ही जायेगी और यदि एक बार उसे विषयों में लालायित होने से रोका गया, तो आगे भी उसे इस प्रकार रोका जा सकता है।

विषयों में लालायित मन को यदि ना रोका गया, तो सत्त्व खंडित होता है।

- कहीं किसी परस्त्री को देखने हेतु मन लालायित हो गया, आतुर हो गया और यदि आँख-मन उस स्त्री पर ले गये, तो सत्त्व नष्ट हुआ ही समझो और फिर इसी तरह सत्त्व के नष्ट होने का पुनरावर्तन जारी रहेगा।
- मन में हल्का सा भी विकल्प हुआ कि, 'सामनेवाले को मेरा गुस्सा बता दूँ। कुछ गर्मजोशी की बातें सुना दूँ।' यह सोचकर कुछ सुना भी दिया, तो सत्त्व नष्ट हुआ ही समजो और फिर इसी बात का पुनरावर्तन जारी रहेगा।
- यदि अभिमान या मानाकांक्षा से सामनेवाले को स्वयं की चतुराई बताने का मन हुआ और यदि सुनाया, तो सत्त्वहीन बनना तय ही समझो। फिर दूसरे स्थान पर, तीसरे स्थान पर यही आत्मश्लाघा की क्रिया जारी रहेगी और सत्त्व ज्यादा से ज्यादा खत्म होता जायेगा।

एकबार भी मन की लालायितता का पोषण करना भयंकर है।

कामलता की करुण कहानी :

कामलता ब्राह्मणी गाँव के बाहर कुए पर पानी भरने हेतु गई, वहाँ अचानक ही सैन्य के साथ आये हुए दुश्मन राजा के सिपाही देवांगना के समान स्वरूपवान कामलता को पकडकर अपने राजा के पास ले गये। ऐसी अत्यंत रूपवान स्त्री का प्राप्त होना ही बडी जीत मानकर राजा उसे ले कर सेना के साथ पुन: लौट गया।

महल में पहुँचकर राजा कामलता को मुख्य रानी का पद दे कर भ्रष्ट होने के लिए लालायित करने लगा और उसे कहने लगा :

'अब तो तुम यहाँ से जा नहीं सकती हो, तो फिर क्यों दु:खी होती है? हम दोनों संसार का आनंद प्राप्त करते है, तु मेरी स्वामिनी और मैं तुम्हारा दास हूँ। गरीब के घर में तुने क्या पाया है? दुर्बल पति भी पत्नी के आगे शूरवीर हो जाता है; वैसे तेरा दरिद्र पति भी तुज पर अपना रौफ जमाता रहा होगा और घर में कोई सुख-सुविधा भी ना होने से जीवन का आनंद उठाने का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता होगा। तेरी यह अमूल्य युवावस्था युँही व्यर्थ समाप्त हो गई होती। यहाँ संपूर्ण सुख-सुविधा है और मैं तुम्हारा सेवक हूँ, अत: अब अन्य कोई विचार मत कर और इस जवानी को सफल बना दे।'

कामलता का परिवर्तन :

कामलता के मन में लालच पैदा हुई, आसक्त बन गई, रानी बन गई, सत्त्व गँवाया। फिर तो क्या? वह एकबार कमजोर हुई, फिर तो जैसे विक्षिप्त ब्राह्मणी तरकट से भी ज्यादा खतरनाक हो जाती है, वैसे कामलता भी विषयों में फिसतली हुई ज्यादा विषयासक्त होती गई। यहाँ तक की स्वयं वैश्या बनने तक और स्वयं के ही पुत्र के साथ कुकर्म करने तक पहुँच गई ! उसकी करुण कहानी अत्यंत विशाल है, किन्तु कहानी का सार यही है कि,

एकबार भी विषयों के प्रति लालायित होना, मतलब कि विनाश का प्रारंभ हो गया समझो।

यदि कामलता का विषय-लालच में एकबार भी न फिसलने का निर्धार होता,

शील को नष्ट नहीं करना होता, सत्त्व बनाये रखना होता, तो राजा चाहे कितना भी रिझाने का प्रयत्न करें, तो वह ऐसा भी सोच सकती थी कि,

आसक्ति के विरुद्ध विचारधारा :

यह राजा कैसी बचकानी बातें कर रहा है? वह समझता है कि, 'मनुष्यदेह चाहे किसी भी प्रकार के अधम उपाय करके भी रंगरेलीयां और भोग हेतु ही प्राप्त हुआ है' परंतु यह उसकी मूर्खता है।

विषयसेवन-भोग में मजा नहीं, किन्तु देह और जीव की विटंबना है।

(i) देह की विटंबना यह है कि, बार-बार खाज-तृष्णा-बैचेनी होती रहती है और बार-बार उसे खाज की लत के जैसे शांत करने की मजदूरी करनी पडती है, वृद्धावस्था में शक्ति ना होने से या युवावस्था में साधन के वियोग से दु:खी होना पडता है; यह विटंबना नहीं तो ओर क्या है?

(ii) जीव की विटंबना यह है कि, उसे मजदूर की भाँति काया और इन्द्रियों को उनके आदेशानुसार अलग-अलग स्थानों पर ले जाना पडता है एवं दास के स्वरूप में सेवा करनी पडती है और इस प्रकार के जीवन में परमपिता परमेश्वर एवं गुरु की कोई सेवा भी नहीं हो पाती है।

(१) विटंबना अकार्य में जुडने की :

शायद मन से समझते भी है कि विषयविलास गलत कार्य है, किन्तु एकबार भी विषयसेवन-भोगविलास में आसक्त हो गये, तो सत्त्वहनन होने से अकार्य में जुडते ही जायेंगे। गलत समझने पर भी गलत करने हेतु जुडना; यह सुख है या विटंबना?

(२) दूसरी विटंबना, अच्छाई को गँवाना :

अकार्य में जुडने से अनेक अच्छाईयों को भी गँवाना पडता है; यह भी विटंबना नहीं तो क्या है?

(३) विटंबना सर्वनाश की :

जीवन के अंत में तो सब लुप्त ही होते है, तो पूर्व के यह तमाम कार्य विटंबना ही तो है।

(४) विटंबना काया-इन्द्रिय की नित्य मजदूरी की :

काया-इन्द्रिय को कोई संतोष नहीं ! कितने भी विषयसेवन, संसारासक्ति प्रदान करने पर भी अतृप्ति रहती है। ऐसी जलती रहती अतृप्ति को जीव पोषण देता ही रहता है और सदा जागृत रखता है और उसका परिणाम यही होता है कि अतृप्ति निरंतर जलती ही रहती है; यह भी जीव की विटंबना ही है ना?

कामलता आसक्त होने से पूर्व सोच सकती थी कि,

'राजा तो कामांध है, पशु की भाँति व्यवहार कर रहा है, सिर्फ चमडी का खेल देख रहा है और एक पवित्र मानव-काया के निर्मल सदाचार देखने में अंध बना हुआ है अर्थात् सदाचार को अनदेखा कर रहा है। परंतु मैं क्यों अंध बनूँ? क्यों उत्तम काया का उपयोग अधम कार्य में करूँ? **काया और इन्द्रिय तो शेरनी के जैसे है, शेरनी को लहु चखाने के बाद वह शांत थोडी रहेगी?**'

'यदि मानव को भी काया और इन्द्रिय की विराट भूख में ही सडना था, तो फिर गधे, सुअर आदि के अवतार में क्या गलत था, जो उसे छोडकर यहाँ आ गये?'

'चाहे किसी भी प्रकार से राजा समझाने-फोसलाने का प्रयत्न करें, किन्तु मेरा पवित्र शील अखंड ही रहेगा। मुझे विषयों की गुलाम नहीं बनना है, विषयों में आसक्त नहीं होना है। यदि धैर्य-सत्त्व बनाकर आसक्ति को पैदा ही ना होने दूँ, तो मुझे कोई दुःख नहीं है। ऐसा करने पर महासतियों की तरह अनहद आनंद की प्राप्ति होगी और उस परम आनंद के दसवें भाग का भी आनंद इस विषय-विटंबना में नहीं है।'

'जीव को विषयों की लालसा होना ही बडा दुःख है। क्योंकि उसमें मर्यादा नहीं होती, योग्य-अयोग्य का विवेक नहीं होता; दिन-रात उसी की लगन रहती है और उसके पीछे मन की अपार गुलामी की दशा ! सुकृत-सद्गुण सब कुछ गँवाना पडता है। अतः विषयों की लालसा ही महत् दुःख है, दुष्कृत्य है, विटंबना है; यह मुझे नहीं चाहिये।'

'इस भव में योग्य-अयोग्य देखने के लिए कठीनाई से प्राप्त हुई आंतरचक्षु को बंध करके मुझे अंधेपन को प्राप्त नहीं करना।'

'विषयसुख में आनंद मात्र मधुबिंदु जितना है, पर उसकी लालसा समंदर जितनी है ! तो फिर क्यों बिंदु के लोभ में दु:ख का समंदर ग्रहण करना?'

कामलता ने सत्त्व बनाये रखा होता, तो यह विवेक भी धारण कर सकती थी, और राजा की बेतुकी बातों के आगे भी अपने आप को काबू में रख सकती थी। किन्तु सत्त्व गँवाया, भ्रष्ट हो गई और बरसों तक वैसी ही रही।

कुछ वर्ष के बाद प्रेमालु पति और नन्हा सा बालक याद आया, हृदय में प्रायश्चित्त भाव हुआ कि, 'यह मेरी कैसी मूर्खता? वह दोनों दु:ख के दिन व्यतीत कर रहे होंगे और मैं यहाँ मौज कर रही हूँ? अब तो कैसे भी करके यहाँ से निकलकर उनके पास जाना ही है।'

कामलता कठीन पहरेदारी को चकमा दे कर भाग नहीं सकती थी, अत: एक भयानक योजना बनाती है। जिसके द्वारा राजा को आसानी से मार कर स्वयं भाग जाने का विचार करती है।

उसने राजा को कहा कि, 'मेरी स्थिति किंचित् विचलित है। मैं कुछ धर्म करना चाहती हूँ, दुखियों को दान देना चाहती हूँ।'

गुलाम राजा को भी उसके मन के विचार ज्ञात नहीं थे। उसने भी खुशी से कहा : 'जो तुम्हारी इच्छा हो, वह करो। यह सब धन तुम्हारा ही तो है।'

क्या राजा को भी धर्म भावना पैदा हुई? नहीं ! यह तो विषय की गुलामी है। कामलता को मन चाहे उतना दान देने की अनुमति देने से वह ज्यादा प्रसन्न होकर मुझे ज्यादा प्रेम करेगी और ज्यादा विषयसुख देगी; इस प्रकार का विषयासक्त मानस ही स्वार्थपूर्ति हेतु धन का खजाना लूंटाता रहता है...!

विषयसुख की लालसा का नशा जीव की कत्लेआम कर देता है।

मरीचि क्यों भवोभव में विषयासक्त? :

यह लालसा धर्म के नाम तले धन खर्चते हुए भी विषयसुख की लालसा के

नशे को ही मजबूत करती है। और विषयतृष्णा का नशा तो प्रतिभव दुःखदायक व दुर्गति प्रदायक बनता है। मारनेवाला तो बनेगा ही ना? यहाँ भी धर्म के कार्य से धर्म तो प्राप्त नहीं करना, बल्कि विषयतृष्णा का पोषण ही करना है, तो फिर भवांतर में भी वह तृष्णा क्यों वृद्धिंगत न हो?

मरीचि ने कपिल राजपुत्र को संसार त्याग करवाया, इतना ही धर्म। किन्तु उसमें सेवा करनेवाला शिष्य प्राप्त हो; यह विषयलालसा भरी हुई थी। एवं उस लालसा के पोषण हेतु उत्सूत्रभाषण भी कर दिया। इस लालसा ने परभव में क्या दिया? भवो भव तक विषय की लालसा और त्रिदंडिक अवस्था। कहा है ना, *पाँचवे भव कोल्लाक सन्निवेश, विषयासक्त ब्राह्मण वेश।*

कामलता को राजा ने आज्ञा प्रदान की, इसलिए उसने दान का आरंभ किया। यह सुनकर देशदेशावर से याचक दान प्राप्ति हेतु आने लगे। उसका पति ब्राह्मण भी आया।

२. राजहत्या

कामलता ने पति को पहचान लिया और एकांत में ले जा कर तमाम बातें कही, और आभूषण से भरा एक कलश दे कर कहती है कि, 'यह कलश ले जाओ और काली चौदस की रात को इस नगर के बाहर वन में देवी के मंदिर में आना। मैं वहाँ राजा के साथ आउँगी और राजा को मारकर हम दोनों यहाँ से चले जायेंगे।'

यह सुनकर ब्राह्मण चौंका, किन्तु इतना ज्यादा धन-आभूषण और स्त्री की पुन:प्राप्ति, इस लालच में आ कर अपने आपको समझाने लगा कि, 'स्त्री तो पराधीन होती है, उसकी क्या गलती? इतने बडे राजा ने पकड लिया था, तो वह कहाँ भाग सकती थी? और राजा के आधीन रहकर शील को भी कैसे बचा सकती थी? परंतु मेरी पत्नी को इस बात का पश्चात्ताप हो रहा है; यह तो उसकी उच्च लायकात ही है। तो भले ही पापी राजा मरे और मेरी पत्नी पुन: मेरे घर आ जाये, मैं उसे आश्रय प्रदान करुँगा।'

अंतर की विषयलालसा और धनलालसा मानव को भी हैवान बना देती है।

शीलभ्रष्ट को आश्रय देना तो नाममात्र है। वास्तविकता देखें तो स्वयं की विषय-वैभव की लालसा को पोषण देना ही मुख्य ध्येय होता है। ब्राह्मण को इसी लालसा के कारण अब चाहे किसी का कितना भी बडा विश्वासघात हो, विश्वास प्राणनाशक हो, फिर भी उसका अफसोस नहीं है। उसकी पत्नी प्रपंच रचकर राजा को मार दे; इस बात में कोई अफसोस नहीं है।

सत्त्वहीन मनुष्य किस प्रकार के अकार्य तक पहुँच जाते है; उसका कोई अनुमान नहीं लगा सकते। इसलिए **अकार्य से बचना हो, तो सत्त्व को नष्ट ना करें।**

आज कैसे कैसे अकार्य की लालसा? :

आज की दुनिया में अकार्य में जुडने लायक अनेक संयोग-साधन उत्पन्न हो चुके है। सत्त्वशाली नहीं बने, तो अनेक प्रकार के अकार्य करने हेतु मन लालायित होगा।

- आज की टेक्ष प्रणाली किस प्रकार चोरी करने हेतु लालायित करती है?
- परस्त्री को राग से देखने हेतु आज के सिनेमा कितने लालायित करते है?
- आज की स्त्रीयों के उद्‌भट वेष से रूपप्रदर्शन नयनों को कैसे लालायित करते है?
- आज के समय में होटेल आदि स्थान किस तरह अभक्ष्य या अनुचित खाने के लिए आकर्षित करते है?
- आज कुछ नया देखने या करने के लिए मन कितना भटकता है?
- आज के समाचारपत्र दुनियाभर की बातें मन में डालने हेतु कैसे लालायित करते है?
- कितनी ही विकथा-पापकथाओं से मन आर्तध्यान और असद्‌विकल्पों के कचरे को ग्रहण करता है?
- आज के मानव इस प्रकार के तुच्छ स्थान और निंदा स्वरूप कचरे वाली बातों द्वारा गिराने का कितना भरचक प्रयास करते है?
- इर्ष्या-द्वेष-निंदा-क्षुद्रता आदि से भरपूर आज का माहौल क्या न करने से बचा सकता है?

आज मन को मिथ्याभाव में ले जानेवाले तत्त्व :

धिक्कार है इस वर्तमानकाल को, जिसमें सत्त्वहीन बनकर पतित हो जाने में कोई देर नहीं लगती। मात्र इन्द्रिय के आकर्षण बढ गये है, आकर्षित करनेवाली चीजें बढ गई है, इतना ही नहीं, बल्कि मन भी मिथ्याभाव में रत हो जाता है इस प्रकार के समाचारपत्र आदि साहित्य, लेखन, भाषण-वक्तव्य और बातें भी बढ गई है।

जबकि सर्वज्ञ-वचन पर श्रद्धाभाव जाज्वल्यमान रहे ऐसे जीवन संस्कार, ऐसा माहौल और ऐसी आचार प्रणालिका कमजोर होने लगी है।

ऐसे समय में सम्यग्दर्शन भी कैसे निश्चल रहेगा? और कैसे इन्द्रिय-निग्रह टीक पायेगा? प्रचूर सत्त्व हो तभी निश्चल रह पाना और बच पाना संभव है।

आज आप जैनधर्म की कोई भी मनोहर बात सुन लो, फिर भी 'चंद्रलोक में पहुँचने की एवं पृथ्वी गेंद जैसी गोल है और सूर्य का परिभ्रमण करती है', इत्यादि भ्रामक लेखन का जोर इस हद तक बढ गया है कि बुद्धि को भ्रमित कर दे।

तब मन को संदेह हो जाता है कि, 'शास्त्र के अनुसार तो चंद्र और सूर्य ज्योतिषी देवता के विमान है। क्या वह सत्य है? शास्त्र पृथ्वी को समतल जमीन के स्वरूप में बताते हे और सूर्यविमान को पृथ्वी के मध्य में स्थित मेरुपर्वत का परिभ्रमण करते हुए बताते है, तो सत्य क्या है? शास्त्र ने जो कहा वह सत्य है क्या?' इस प्रकार के संदेह होने लगते है।

जीव में सत्त्व नहीं है, अत: श्रद्धा-सम्यग्दर्शन का पोषण करनेवाले शास्त्र पर, सर्वज्ञ वचन पर संदेह करने में क्षणिक भी विलंब नहीं होता। मिथ्याभाव-मिथ्यात्व में बहक जायें, ऐसा यह विषम काल है। धिक्कार है ऐसे वर्तमान समय को।

जन्म के पश्चात् स्कूल की पढाई शुरु हुई, तब से आज तक मिथ्याभ्यास ही हो रहा है। यही बातें बरसों तक पढाई जाती है, फलत: यही बातें दिमाग में दृढरूप से बिठायी जाती है। फिर शास्त्र की बातों पर श्रद्धा कैसे होगी? बचे तो भी कैसे - कहाँ कहाँ से?

आज के विज्ञान की बातों पर श्रद्धा क्यों ना रखे? :

सत्त्व है, तो श्रद्धा में मन को स्थिर करके, मन में सर्वज्ञकथन पर श्रद्धा मजबूत बनाकर सोचना है कि, आज की बातों का स्वीकार करने लायक कुछ नहीं है। क्योंकि,

(१) आज की खोज में नये नये संशोधन के द्वारा सिद्धांत और मान्यता परिवर्तित होती रहती है, अर्थात् अंतिम सत्य जैसा कुछ है ही नहीं।

(२) प्रोफेसर आईन्स्टाईन ने नया अणु-गणित बताया और सापेक्षवाद का सिद्धांत स्थापित किया। जिसकी बदौलत गुरुत्वाकर्षण आदि पूर्व के अनेक सिद्धांत और मान्यताओं की क्षति हो गई है।

(३) आज भी अमेरिका में बुद्धिजीवीओं ने सबूत-दलील के साथ साबित किया है कि पृथ्वी गेंद जैसी गोल नहीं है और ना ही परिभ्रमण करती है, बल्कि सूर्य पृथ्वी की चारों ओर परिभ्रमण करता है।

(४) आज का विज्ञान तो चंद्र को प्रकाशरहित कह रहा है और सूर्य के प्रकाश को ग्रहण करके प्रतिप्रकाश फैलानेवाला बता रहा है। इस बात से तो यही साबित होता है कि, चंद्र कोई तेजस्वी दर्पण-काच-रत्न जैसा पदार्थ होना चाहिये, तभी तो उसके उपर सूर्यकिरण गिरते ही वह प्रतिप्रकाश फैला रहा है। देखा जाये तो कभी भी अ-तेजस्वी (Non-shining) मिट्टी-पत्थर की जमीन जैसे पदार्थ के उपर प्रकाश पडते ही उसमें से प्रतिप्रकाश की किरनें बाहर नहीं नीकलती।

घर के आंगन की जमीन पर चाहे कैसी भी प्रखर वैशाख या जेठ माह की धूप गिरे, फिर भी उसकी किरनें प्रतिप्रकाश के स्वरूप में घर में नहीं आती। हाँ, प्रकाश की आभा प्रतीत हो सकती है, किन्तु प्रकाश के स्वरूप में किरनें नहीं। वैसे ही चंद्रतल भी अगर तेजस्वी दर्पण-रत्न जैसे पदार्थ स्वरूप नहीं, बल्कि मिट्टी का बना हो, तो उसमें से प्रतिप्रकाश नहीं निकल सकता और पृथ्वी के उपर उसकी प्रकाशमय किरनें नहीं आ सकती।

वहीं आज का विज्ञान दूसरी बात भी करता है कि चंद्र पर जा कर मिट्टी ले कर आये है। इस बात से यह तो साबित हो ही जाता है कि विज्ञान चंद्र तक पहुँचा ही नहीं है या फिर जो चंद्र हमें प्रकाश स्वरूप दिखता है, जिसमें से हमें प्रकाश की किरनें प्राप्त होती है वह और आज के विज्ञान द्वारा खोजा गया चंद्र अलग है।

(५) 'चंद्र स्वयं प्रकाशमान नहीं है, बल्कि सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है' यह बात गलत होने की वजह यह भी है कि, सुद चौथ-पाँचम के चंद्र का प्रकाश और पूनम के चंद्र का प्रकाश पृथ्वी के समान क्षेत्रफल पर पहुँचता है। स्वप्रकाश के बिना यह संभव नहीं है। यदि सूर्य का प्रकाश होता, तो यह नियम बनता कि, कम क्षेत्र पर गिरनेवाले प्रकाश का प्रतिप्रकाश कम क्षेत्र पर ही दिखता और ज्यादा क्षेत्र का ज्यादा क्षेत्र पर दिखता।

उदाहरण : उँचाई पर लाईट-दिये को पूरा ढँककर मात्र नीचे हल्का सा खुला रखेंगे, तब भी उसका प्रकाश संपूर्ण कमरे में फैलता है किन्तु यदि उसके बदले कोई दर्पण रखा हो और उसे पूर्ण ढँककर मात्र हल्का सा भाग खुला रखने के बाद उसके करीब से बेटरी-टोर्च का प्रकाश छोडने पर प्रकाशित दर्पण के भाग में से जो प्रतिप्रकाश अर्थात् प्रकाशकिरनें पैदा होगी, वह जमीन के सीमित क्षेत्र तक ही फैलेगी। वहीं संपूर्ण खुले दर्पण पर से प्रतिप्रकाश की किरनें जमीन के ज्यादा क्षेत्र तक फैलेगी।

चौथ-पाँचम का अल्पांश चंद्र हो या फिर पूनम का पूर्ण चंद्र हो, दोनों की चमक में फर्क होगा, किन्तु दोनों का प्रकाश समान पृथ्वीक्षेत्र पर गिरता है, यही बात साबित करती है कि वह प्रकाश चंद्र का खुद का ही प्रकाश है, प्रतिप्रकाश नहीं।

(६) विशेष बात यह है कि आज की व्यर्थ बातों में बहकने के बदले यह सोचने जैसा है कि,

- शास्त्र अर्थात् सर्वज्ञवचन ने कैसे भव्य कल्याणमार्ग बताये है !
- हेय और उपादेय का-त्याज्य और आदरणीय का कैसा अद्भूत विवेक बताया है !
- एकेन्द्रिय-बेइन्द्रिय आदि जीवों का कैसा सूक्ष्म, सुंदर और उत्तम जीवविज्ञान और ज्ञानावरणीयादि कर्मविज्ञान भी कैसा श्रेष्ठ, सुआयोजित और सुंदर बताया गया है !

- प्रो. आईन्स्टाईन ने सापेक्षवाद की खोज इस काल में की, किन्तु सर्वज्ञवचन ने तो पूर्व में ही सापेक्षवाद-स्याद्वाद-अनेकांतवाद प्रकाशित किया है।

इस प्रकार सचोट, अविनाशी, भव्य कल्याण मोक्षमार्ग, तत्त्व और सिद्धांत बतानेवाले सर्वज्ञ भगवंत क्या पृथ्वी-सूर्य-चंद्र आदि का स्वरूप दीखाने में मिथ्याभाषण करेंगे?

तीर्थंकर परमात्मा की सर्वज्ञता ऐसी है कि जिसके बिना अरूपी आत्मा और सूक्ष्म कर्माणुप्रक्रिया नजरों से नहीं देख सकते। नजरों से देखे बिना यथार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मथियरी-कर्मविज्ञान बताना असंभव है। नजरों से देखने पर ही कर्म के विविध बंध-उदय-संक्रमण-उद्वर्तना-अपवर्तना आदि यथास्थित, बारीकी से और विस्तार से बता सके।

ऐसे परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ को जूठ बोलने पर मजबूर करनेवाले राग-द्वेष-अज्ञान ही नहीं है, तो जूठ कैसे बोल सकते है? परमात्मा ने सूर्य-चंद्र-पृथ्वी की जो स्थिति कही, उसमें असत्यता की लेशमात्र शंका करने का कोई स्थान नहीं है।

आज के प्रत्यक्ष कहे जाते पदार्थों में दृष्टिभ्रम-गुणांकभ्रम, दूरत्व आदि अनेक कारण होते है, उन्हें बिना सबूत के सत्य कैसे माना जा सकता है?

इस प्रकार की आधुनिक जड विज्ञान की बातों के सामने शास्त्र-श्रद्धा, तीर्थंकर-वचनश्रद्धा बनाये रखने का सत्त्व हो, तभी श्रद्धा में मजबूत रह पाना संभव है। वैसे ही आज के खतरनाक भोग साधन, राग साधन और विषयसेवन के सामने राग, आकर्षण, आसक्ति ना करने का और इन्द्रियों के सामने परास्त ना होने का सत्त्व हो, तभी संयम में मजबूत रह पाना संभव है।

अर्थात् दो प्रकार से सत्त्व को दृढ करना है :

(१) जैनधर्म के सिद्धांत और तत्त्व पर हमारी श्रद्धा अटल रहे, इसलिए आज की वैज्ञानिक बातों में और मनघडंत ध्यान-योग के साहित्य में डुबने से बचने का सत्त्व, उसकी असर तले बहक न जाने का सत्त्व; और,

(२) आज के भोग-विलास के साधन, सुविधा के अंधराग और असंयम में डुबने से बचने का सत्त्व।

कामलता ब्राह्मणी रानी बनी थी, उसने शील पालन का सत्त्व गँवाया। राजाशाही भोग विलास में फँस गई, वही कामलता अब *'एकदा भ्रष्टस्य शतशो विनिपात:' 'एक बार भ्रष्ट होनेवाले का सौ बार पतन'* यह न्याय से अब अपने पति के साथ मिलकर योजना बनाती है कि, 'आप काली चौदस की रात्रि को जंगल में स्थित देवीमंदिर पधारना, मैं वहाँ आउँगी और राजा को मारकर हम दोनों वहाँ से पलायन हो जायेंगे।'

एकबार सत्त्व को गँवाकर शीलभ्रष्ट बनकर कहाँ तक पहुँच गई? राजा को मार देने तक के विचार करने लगी। जबकि उसका पति जो उत्तम वेदपाठी ब्राह्मण है, वह भी स्त्री के लोभ में यह कृत्य करने तैयार हो गया।

क्या उस ब्राह्मण को अपनी स्त्री को कुशीलता में से मुक्त नहीं करना चाहिये? अवश्य करना चाहिये, किन्तु इस प्रकार हत्या के कृत्य से नहीं।

कामलता का खूनी खेल :

काली चौदस आने पर कामलता राजा को कहती है कि, 'उस दिन आपके बिमार होने पर जब आपके मस्तिष्क में असह्य वेदना हो रही थी, तब मैंने काली देवी की बाधा रखकर संकल्प किया था कि मेरे पति की वेदना समाप्त हो गई, तो काली चौदस को आपकी पूजा करुँगी। उसी बाधा के प्रताप से आपका स्वास्थ्य ठीक हो गया था। तो अब आज रात्रि को हम दोनों को नगर के बाहर काली देवी की पूजा करने जाना पडेगा।'

राजा भी कामलता के मोह में कामांध है, वह कहता है कि, 'क्या बात है ! तुम्हारा प्रेम कितना उत्तम है ! हम अवश्य पूजा करने जायेंगे।'

तब ब्राह्मणी कहती है कि, 'हम दोनों के अलावा कोई तीसरा व्यक्ति नहीं आ सकता।' राजा वह भी कबूल करता है।

मोहांध राजा यह नहीं सोचता कि, 'क्यों दोनों को ही जाना है? सैनिक भले मंदिर के बाहर खडे रहे, तो इसमें क्या समस्या हो सकती है?' नहीं, ऐसा

कोई विचार राजा नहीं करता, कोई सवाल नहीं और कोई शंका भी नहीं कि, 'पूजा करने में तीसरे व्यक्ति का प्रतिबंध क्यों?'

काम का अंधापन अनुचित, राग की बेहोशी अनुचित; यह काम और राग अनर्थ की शंका भी नहीं होने देते।

काली चौदस की रात्रि को राजा-रानी दोनों देवी के मंदिर तक पहुँचे और रानी ने पूजा करने का नाटक शुरु किया और देवी को बार-बार वंदन करके उपकार मानते हुए बोलने लगी कि, 'माँ ! तेरे प्रभाव से मेरे नाथ का रोग नष्ट हो गया। तेरी महेर अपरंपार है !' फिर राजा को कहने लगी कि, 'आप भी देवी माँ के पैर छुकर उपकार मानें !'

कामांध राजा को रानी के षड्यंत्र का कोई अंदाजा नहीं था। वह तो रानी के प्यार में ही भरोसा रखकर देवी के चरणों में सर झुकाता है, तभी कामलता ने राजा की तलवार उठाकर राजा की गरदन पर आक्रमक प्रहार कर दिया। तेज तलवार के प्रहार से सर कटने में देर भी क्या लगती? सर एक तरफ और शरीर एक तरफ हो गया। हाय ! कैसा क्रूर, प्रपंची, खूनी खेल ! कैसा अधमाधम कृत्य !

शीलरक्षार्थे :

प्रश्न : शील बचाने की दृष्टि से क्या यह कृत्य योग्य नहीं है?

उत्तर : शीलभंग तो उसने कर ही लिया था, फिर भी अब वहाँ से मुक्त होना था, तो राजा के साथ ही विश्वासघात और प्राणघात करना बिलकुल उचित नहीं था।

सीता को मुक्त करने हेतु राम-लक्ष्मण ने रावण के साथ युद्ध किया, जिसमें रावण की मृत्यु हुई। किन्तु युद्ध के पूर्व रावण को आगाह किया गया था कि, 'सीता को मुक्त कर दो, अन्यथा मृत्यु के लिये तैयार रहो।' रावण नहीं माना और युद्ध में भी ऐसा समय आया, जब रावण ने अपना अंतिम शस्त्र सुदर्शन चक्र लक्ष्मण को मारने हेतु छोडा, किन्तु वह चक्र लक्ष्मण का सर धड से अलग करने के बदले उनकी सेवा में ही स्थिर हो गया। तत्समय भी लक्ष्मण रावण को चेतावनी देते है कि,

'रावण ! यह देख, तुम्हारा चक्र भी अब मेरे हाथ में है। अब तो यही समझ कि तुम्हारे ही चक्र से तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। फिर भी हम तुम्हें मौका दे रहे है, सीताजी को मुक्त कर दो और सुखरूप स्वराज्यसुख का पालन करों। तुम्हारा यह भयंकर अपराध भी हम माफ करने के लिए तैयार है।'

लक्ष्मण के इन वचनों में कहीं भी विश्वासघात से मार डालने की वृत्ति नजर नहीं आती। इससे विपरीत रावण का भयंकर अपराध भी माफ करने की विशाल उदारता है ! किन्तु मोहांध रावण ने यह बात नहीं मानी और लक्ष्मण को कहने लगा कि, 'वन में भटकनेवालों ! तुम्हें सीता नहीं मिलेगी, जो आपकी इच्छा हो वह कर लो' इस प्रकार के वचनों को सुनकर चक्र का उपयोग करना ही पडा और रावण की मृत्यु हुई।

यहाँ तो कामलता ने राजा को प्रेम का भरोसा दे कर उसका ही गला काट दिया। यह तो भयावह विश्वासघात हुआ !

महासतीओं ने शीलरक्षा हेतु माया की है, किन्तु ऐसा विश्वासघात-प्राणघात नहीं।

- सुरसुंदरी महासती पति अमरकुमार के द्वारा निर्जन वन में त्याज्य हो कर आगे एक राजा की जाल में फँस गई, किन्तु उन्होंने राजा से चार दिन की महौलत माँगी और अन्य रानीयों की मदद से गुप्त मार्ग द्वारा पुन: वनमार्ग से भागने में सफल रही। उन्होंने राजा द्वारा प्राप्त हुए चार दिन के विश्वास को अवश्य तोडा, किन्तु इस विश्वासघात में राजा के प्राणनाश का कोई विश्वासघात नहीं था।

- सती नर्मदासुंदरी भी इस प्रकार त्यक्ता हुई थी, वह सती किसी गणिका की जाल में फँस गई। गणिका ने उन्हें राजा के सन्मुख नृत्य करने हेतु भेजती है। नर्मदासुंदरी ने भी मार्ग में माया करते हुए मूल्यवान रेशमी वस्त्र के साथ किसी कीचडवाले स्थान में बैठकर पागलपन का नाटक शुरु कर दिया। विचित्र चेष्टा के साथ चिल्लाती है कि, 'राजा हो तो भले, मुझे क्या'। राजा के सैनिक उन्हें पागल समझकर वहीं रखकर चले जाते है। गणिका के सेवक उन्हें पुन: गृह ले आते है, किन्तु वहाँ भी नर्मदासुंदरी

ने यही पागलपन जारी रखा। तब 'यह पागल कोई अनहोनी ना कर दे' यह सोचकर गभराई हुई गणिका ने उन्हें स्वगृह से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार नर्मदासुंदरी माया करके छूट गई। किन्तु इस हाल में भी गणिका को विश्वास में रखकर उसे मार डालने का विचार नहीं किया।

- रतिसुंदरी-बुद्धिसुंदरी-ऋषिसुंदरी-गुणसुंदरी आदि सतीओं ने शीलरक्षा हेतु माया की है, किन्तु वह माया भी स्वयं पर आपत्तिओं को निमंत्रण दे कर; अन्य किसीको विश्वास दे कर, उसे मारकर नहीं।

जबकि, कामलता प्रथम स्वयं ही लालच-दाक्षिण्य में भ्रष्ट हो कर अब राजा को विश्वास में रखकर मार देती है, यह भयंकर कृत्य है।

लक्ष्मण ने रावण पर चक्र फेंक कर उसका गला काट दिया, इस कार्य में लक्ष्मण के परिणाम अवश्य कठोर रहे, परंतु यदि लक्ष्मण ने रावण को विश्वास में रखकर उसे गले लगा के गला दबोच कर हत्या की होती, तो इस कार्य में उसके क्रूर परिणाम पूर्व से अधिक होते।

हत्या करने में या भयंकर नुकसान करने में जब विश्वासघात सम्मिलित होता है, तब क्रूरता कई गुना ज्यादा बढ जाती है।

विश्वासघात भयंकर क्रूरता है।

३. पतिमृत्यु

कामलता के पति की मृत्यु :

कामलता ने राजा को विश्वासघात से मार दिया। पश्चात् क्या प्राप्त किया? वह दीपक ले कर मंदिर में अपने पति की खोज करने गई। किसी कोने में अपने पति को निद्राधीन अवस्था में पाया, उठाने की कोशिश करती है, पर वह उठता नहीं है। कैसे उठेगा? जीवित हो, तो उठ पायेगा ना? वास्तव में हुआ यह कि उसका पति मंदिर में पहले से आ चूका था और किसी स्थान पर आ कर छूप गया। अब उसे ज्ञात नहीं था कि वहाँ भयानक सर्प था। उस सर्प के दंश से कामलता के पति की तत्काल मृत्यु हो गई। कुदरत भी मानो कह रही है कि 'आओ, जैसा बीज बोया वैसा फल प्राप्त करो, जैसी करनी वैसी भरनी !'

स्वार्थलालसा और अनुचित मोह–दाक्षिण्य व्यर्थ है :

ब्राह्मण उसकी पत्नी के भयावह कृत्य में सहमत हुआ कि, 'भले ही राजा को इस प्रकार मार दे, मैं क्यों रोकूँ?' उसका स्वार्थ था कि पत्नी स्वगृह लौट आये। साथ ही पत्नी ने धन का भंडार दिया ही था और वह अत्यंत रूपवान भी थी। अत: उसके मोह और दाक्षिण्य में बहक गया।

स्वार्थमाया और दाक्षिण्य; दोनों गलत है, जीव के द्वारा विचित्र कृत्य भी करवा देते है या ऐसे कृत्यों में सहयोगी बना देते है।

जीव को जब ज्यादा बातों की रुचि होती है, तब यही होता है। कोई व्यक्ति बोल रहा हो कि, 'वह भाई तो अत्यंत अभिमानी था, अपना रौफ जमाता था, तो उसे भी कोई उसकी टक्कर का मिल गया और उसको इस प्रकार अपनी जाल में फँसाया कि उसे अपना स्वरूप बता दिया। ज्यादा रौफ जमाने निकला था ना, अब सही रास्ता मिल गया।'

इस प्रकार की बातें सुनकर वह जीव क्या कहेगा? ऐसा ही कुछ ना कि, 'क्या बात कर रहे हो, सच में ऐसा हो गया?' यह क्या किया? दूसरे की बातों में सहयोगी बन गया; किसीका विश्वासघात हुआ और जाल में फँस गया, इसमें स्वयं की खुशी जाहिर कर दी। कौन करवा रहा है यह सब? दाक्षिण्य।

वार्तालाप की रुचि ही ऐसी भयावह है कि किसी भी प्रकार की पापी बात करनेवाले के दाक्षिण्य में बहक जाने का मन होता है। पश्चात् इस भयंकर कृत्य में सहयोगी बनकर उस कृत्य में स्वयं की खुशी भी व्यक्त की जाती है।

इन स्थितियों में हिंमत बरकरार नहीं रहती, फिर हिंमत के अभाव से कैसे बोलेगा कि, 'अरे ! क्या ऐसा भयावह कृत्य कर दिया? यह तो अनुचित किया।'

कोई कहेगा कि, 'मेरा सेठ अत्यंत खराब इन्सान है; मजदूरी खूब करवाता है और वेतन कंजूसो की भाँति देता है। पर नेहले पे देहला, उसे भी सबक सिखानेवाला मिल ही गया और बेवकूफ बनाकर पच्चीस हजार रुपये उठा गया !'

यह सुनकर बखलौल इन्सान कहेगा कि, 'वाह !'

क्यों इस प्रकार बोलना? यहाँ उस इन्सान को मात्र आनंद मिलेगा कि अच्छा हुआ कोई सेठ को ही बेवकूफ बना गया। इस विचार में आश्चर्य के साथ आनंद सम्मिलित है कि कोई चतुर इन्सान बेवकूफ बना गया और सेठ ही बेवकूफ बना।

कोई इन्सान प्रपंच से पीडित बने या दुःखी हो, उसमें आनंद करने का क्या कारण? दाक्षिण्य का पाप यह आनंद करवाता है। सोचना है कि,

आज के काल में बातें करने-सुनने की आदतों से इस प्रकार के पापी दुष्कृत्यों में संमत होने की घटना कितनी बार बन रही है? क्या इस बात का कोई हिसाब रखा है? सोचों, इन घटनाओं से प्राप्त करना या गँवाना क्या है? कुछ भी नहीं, मात्र एक ही चीज होती है 'बातें'। यह नहीं सोचा कि बातों का बतंगड ही बन जाता है। व्यर्थ के दाक्षिण्य में बहक कर पाप में सम्मिलित होने का मन हो जाता है, अन्य के भयावह कृत्य में भी खुशी जाहिर करने का अवसर पैदा हो जाता है।

क्या कर्मसत्ता यह कृत्य माफ करेगी? क्या ऐसे कृत्यों से कर्मबंध नहीं होगा? जालिम कर्मबंध होंगे; और भयावह दुष्कृत्य की रुचि का पोषण हो वह अलग। जिसके फलस्वरूप भविष्य में भी दुष्कृत्य की बुद्धि सरलता से पैदा होगी।

- धवल सेठ जब श्रीपाल को समंदर में फैंकने की योजना बना रहा था, तब चार में से तीन मित्रों ने भी योजना में संमति प्रदान की। जिससे चक्रेश्वरी देवी ने भी उन सबको परचा दिखा दिया।

- अंजनासुंदरी पूर्व के भव में रानी थी और सौतन रानी पर भारी ईर्ष्या के कारण उसके गृहमंदिर से जिनप्रतिमा की चोरी करके विष्टासंपन्न स्थान पर रख दी थी। इस कार्य में उसकी सखी ने भी साथ दिया था, तो उसने भी इस प्रकार कर्मबंधन किया कि अगले भव में उसे भी अंजनासुंदरी की सखी वसंततिलका बनकर वन में भटकना पडा।

पापी कृत्य तो मन को कलुषित करता ही है, किन्तु पापी आत्मा के साथ वार्तालाप करने से भी उसके पाप में संमति-खुशी बताने से वह कृत्य भी मन को कलुषित करता है और भयंकर पापकर्म का बंधन करवाता है। तभी तो आज के काल में वार्तालाप की आदत रखना व्यर्थ है।

जीव को होता है कि, 'कुछ बातें सुनेंगे, तो कुछ जानने को मिलेगा।' किन्तु जीव यह नहीं जानता कि, कुछ ना जानने से जो नुकसान नहीं है, वह नुकसान पाप व कषाय की बातों में स्वसंमति प्रदान करने से है। अतः व्यर्थ बातों से दूर रहने में ही भलाई है।'

प्रश्न : किन्तु बातें करनेवाले लोग घर ही आ कर बैठ जायें, तो क्या करें?

उत्तर : उस समय स्वयं ही धर्म की बातें शुरु कर दे। किसीके सुकृत-सद्गुण की बातें करें। सामनेवाला यदि इन बातों को छोडकर किसीकी निंदा करने लगे, पाप के आनंद की बातें करने लगे, तो उसे समझायें कि,

'वह जीव कर्मवश है, उसे पापकार्य पसंद है, इन कार्यों में चतुराई भले ही दिखती हो, किन्तु उसके परिणाम भयंकर है। हमें तो मात्र सकारात्मक रहकर अच्छाईयों को देखना है। दुनिया में अनेक बुराईयाँ

है, हम क्यों उन बुराईयों को देखें?' ऐसी बातें करके उस इन्सान की बातों को रोक सकते है। पुनः 'देखों, उस आत्मा की सज्जनता कैसी विशाल है' इस प्रकार की बातें करके किसी ना किसी व्यक्ति के गुणानुवाद की बातें शुरू कर देनी चाहिए।

फिर भी सामनेवाला यदि निंदा ही करता रहे, तो हिंमत से कह दे कि, 'क्षमा करें, मुझे इस प्रकार की निंदनीय बातों में कोई रुचि नहीं है।'

सत्त्व की उपलब्धता जरुरी है। बिना सत्त्व के इस संसार में सज्जन का जीवन जीना मुमकीन नहीं।

यदि यह सत्त्व ना हो, मुँह पर स्पष्ट कह देने की हिंमत ना हो, तो निंदा की बातों में कोई रस ना रखे और मन में नवकार मंत्र गिनते रहे। इस क्रिया में भी सत्त्व का होना जरुरी है। तभी मीठी और मन को भानेवाले व्यर्थ बातों में रुचि प्रगट नहीं होगी। सत्त्व के बिना सही कार्य नहीं होगा।

कामलता के पति ने सत्त्व गँवाया और पत्नी के अति नीच कर्म में संमत हुआ, किन्तु कुदरत ने उसे सबक सिखा दिया। गलत कार्य में साथ देने वाला वह अभागी सर्पदंश से मृत्यु प्राप्त कर बैठा।

अनेक सत्कार्य करने में सक्षम यह मानव जीवन कभी कभी गलत कार्य में ही गँवा देना पडता है।

हर क्षण याद रखों कि हमारी श्रेष्ठ संपत्ति यह मानव जीवन ही है। इसी संपत्ति के आधार से अनेक सुकृत की कमाई हो सकती है। अतः इसको व्यर्थ बरबाद नहीं करना चाहिये। मानव-आयुष्य की संपत्ति से जो सत्कार्य हो सकते है, वह अन्य गति के आयुष्य से नहीं हो सकते। अतः कभी भी आत्महत्या का विचार तो करना ही नहीं चाहिये। भयंकर दुःख में भी 'मर जाऊँ तो भला' यह विचार ना करें। क्योंकि बडे से बडे दुःख में भी,

- नवकारस्मरण
- अरिहंत का ध्यान
- पापों से विरति

- जीवों के प्रति दयाभाव
- मैत्रीभावना
- जिनशासन और महान पुरुषों के सुकृतो की अनुमोदना
- स्वपापो की निंदा और पश्चात्ताप...

आदि जो भी उत्तम कार्य हो सकते है, वह जिंदा है तब तक ही हो सकते है, मृत्यु के पश्चात् नहीं। अब पूछो,

प्रश्न : दु:ख के समागम से नहीं, किन्तु पाप के उद्वेग से तो मरने की इच्छा होती है ना?

उत्तर : अरे ! महापाप हो जायें, तब भी मौत की कामना तो ना ही करें। क्योंकि जीवन है, तो गुरु के समीप जा कर पाप का एकरार और प्रायश्चित्त ग्रहण एवं त्याग-तप-जिनभक्ति आदि आराधना का संभव है, किन्तु मृत्यु के पश्चात् यह तमाम आराधना नहीं होगी। साथ ही, मृत्यु के पश्चात् गुरु के साथ एकरार-आलोचना रहित पापों के शल्य साथ में ही रहेंगे, जिसके द्वारा दुर्गति के पाप और दु:खभरे जन्म ही प्राप्त होते रहेंगे।

मूल बात यही है कि मानव आयुष्य को मूल्यवान जागीर समझते हुए उसे नष्ट करने का विचार भी ना करें; अपितु इस संपत्ति के उपयोग द्वारा,

- मन से उत्तम विचार, उत्तम भावना, वैराग्य-क्षमादि भाव निरंतर प्रगट करते रहे;
- वाणी से प्रभुस्तोत्र, स्तवन, अन्य के गुणानुवाद, शास्त्ररटन, हितोपदेश आदि उत्तम भाषा का ही प्रकाश करें;
- काया से दया-दान-शील-त्याग-तपस्या-संयम आदि उत्तम क्रियाएँ ज्यादा से ज्यादा करते रहे।

यह अवश्य ध्यान में रखे कि, मानव आयुष्य मूल्यवान संपत्ति है। यह जीवन मीला है सुकृतवृद्धि और पापों की कमी करने के लिए।

ब्राह्मण तो सर्पदंश से मरा पडा है। कामलता सोचती है कि, 'यह निद्राधीन नहीं, बल्कि प्राणहीन है। अब तो मैं उभयभ्रष्ट हो गई, ना राजा रहा, ना ही पति रहा ! अब जल्दी यहाँ से पलायन होना पडेगा, अन्यथा राजा के सैनिक आ गये, तो मैं पकडी जाऊँगी और मृत्युदंड मिलेगा। अत: अब यहाँ से भागने में ही भलाई है।'

पर कहाँ जायेगी? मुख्य मार्ग से जाने पर तो अवश्य पकडे जाने का डर है, अत: वनमार्ग से राजा के अश्व पर बैठकर भागी। लंबा सफर तय कर लिया, प्रात: होने तक तो किसी नगर की सीमा तक आ पहुँची।

वहीं एक वैश्या उसे देखकर पूछती है कि, 'कौन हो बहन? अकेले कहाँ से आ रही हो?'

कामलता ने मनघडंत कहानी बना दी कि, 'पति के साथ यात्रा पर गई थी, मार्ग में भटक गये, जंगल में फँस गये, जंगली जानवरों ने मेरे पति को मार डाला, मेरा तो नसीब ही फूट गया !' यह तमाम बातें कहकर रो पडती है।

वैश्या उसे आश्वासन देती है कि, 'रोती क्यों है बहन? विधाता के लेख कौन मिथ्या कर सकता है? चिंता मत कर, फिल्हाल मेरे गृह तुम्हारी इच्छा हो, तब तक कुशलता से मेरी बहन बनकर रहो।'

वैश्या को लालच हुआ कि, 'यह अत्यंत रूपवान स्त्री है और इसका पति भी मर गया है। मेरे गृह ले जा कर इसे देवांगना जैसी वैश्या बनाई तो बडे-बडे राजा, राजकुमार, सेठ आदि आने लगेंगे और पैसों की बौछार होने लगेगी।'

वैश्या दुनिया की कडवी सच्चाई जानती है कि बडे राजा-राजकुमार-सेठ में ज्यादातर मर्द रूप और स्पर्श के गुलाम है। ऐसी रूपवंत स्त्री के मोह में गिरते हुए देर कितनी?

आज वैराग्य क्यों महँगा? :

- रूप के गुलाम हल्का सा भी सुरूप दिखते ही नजरों को वहीं लगा देते है; वह रूपकुशील इन्सान कहा जाता है।

- वैसे ही स्पर्श के गुलाम को हल्का सा भी कोमल स्पर्श प्राप्त हो, तब वह स्पर्श करते हेतु दौडते है, इच्छा करते है, मन में उसी स्पर्श के विचार करते रहते है; ऐसे व्यक्ति स्पर्शकुशील कहलाते है।

- रूपकुशील और स्पर्शकुशील की भाँति रसकुशील भी होते है, किन्तु वह पूर्व के दोनों कुशील आत्माओं से अच्छे है, क्योंकि पेट भरने पर शांत तो रहते है। अर्थात् पुनः कुछ समय तक वह आत्मा मेवा-मीठाई आदि की कामना नहीं करते।

जबकि, रूप-स्पर्श कुशील आत्मा को तो अल्प समय के लिये भी शांति नहीं रहती। ऐसे कुशील आत्मा रूपवान स्त्री के प्रति आकर्षित होते ही है।

जीव ऐसे ही तो मर जाते है। उसे संसार की जाल में से छूटने की बात तो दूर, किन्तु संसार को जाल स्वरूप या जहर स्वरूप मानना ही महँगा पडता है। जब मानने की बात ही महँगी है अर्थात् वैराग्य ही महँगा है, तब उसका त्याग नामुमकीन है।

आज साधु क्यों नहीं बढ रहे? :

वर्तमान काल में साधुओं की आवश्यकता अधिक है, पर साधु इतने बढते नहीं है, क्यों? आज के काल में यह रूपकुशीलता और स्पर्शकुशीलता अत्यंत बढ गई है। आज के अखबार, सिनेमा, चित्र, उद्‌भट वेष, रिवाजों में अत्यधिक छूट आदि ने रूपकुशीलता और स्पर्शकुशीलता को खूब बढावा दिया है। विशेषकर रेडियो-रेकोर्ड बोलनेवाली फिल्मों से शब्दकुशीलता भी बढ गई है।

यह कुशीलता भयावह है, क्योंकि वह कुशील के कार्य करवाती है और वह कार्य ना हो, तब भी मन में उसी के विचार चलते रहते है। फिर आत्मा-परमात्मा का विचार दुर्लभ हो जाये; इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

आत्मा और परमात्मा का विचार मानवजीवन में दुर्लभ बन जाये; यह कैसा भारी नुकसान?

इन्द्रियकुशील को आत्मचिंता दुर्लभ :

इन्द्रियों की कुशीलता सेवन के अवतार कीडे और जानवर तो क्या अनार्य म्लेच्छ मनुष्यों के भी है। किन्तु आर्य मानव अवतार ही ऐसा है, जहाँ आत्मा और परमात्मा का विचार-चिंता मन में रहना संभव है। परंतु यह कैसे संभव है? आत्मा रूपकुशील, स्पर्शकुशील, शब्दकुशील ना हो तब।

जो कुशील है, उस व्यक्ति का तो कोई भरोसा नहीं कि वो कुशीलता में कहाँ तक भ्रष्ट हो जायेगा ! और ऐसे व्यक्ति का तो भरोसा भी नहीं कर सकते, क्योंकि कुशीलता किसी भी हद तक जा सकती है। ससुर पुत्रवधू का राग करे या भाभी देवर-जेठ का राग करे, इसमें आश्चर्य ना करें।

स्पर्शकुशीलता है ही ऐसी भयावह कि मर्यादा भंग हो ही जाता है; यह आश्चर्य नहीं है बल्कि ना हो तब आश्चर्य होता है !

कुशीलता के लिए तो जिनवाणी से हृदय कोमल बनता है :

इन कुशीलताओं की वजह से आज के काल में पवित्र मानी जाती भारतीय प्रजा का नैतिक-आध्यात्मिक जीवन नष्ट होने की स्थिति में है। पश्चात् शास्त्रवचन अर्थात् श्री तीर्थंकर परमात्मा के वचन बहेरे हो चुके कानों पर ही बरसे; इसमें आश्चर्य नहीं ! कुशीलता ही जहाँ भरपूर है, वहाँ वीतरागी वचन हृदय को कंपित कैसे कर पायेंगे?

बोध यही ग्रहण करना है कि यदि प्रभु को प्यार करना है, प्रभु की वाणी से हृदय कोमल बनाना है, जिनशासन की आराधना करनी है, तो जीवन से रूपकुशीलता, स्पर्शकुशीलता और शब्दकुशीलता; इन तीनों को निकालना ही है, संपूर्णतया त्याग कर दो।

कहीं भी आते-जाते यह सोचों कि, 'मेरी यह नजरें किसी भी प्रकार के अयोग्य दृश्य या योग्य किन्तु निरर्थक दृश्य देखने में लालायित ना हो'। व्यर्थ देखना बंद हो जायेगा, परस्त्री के एक भी अंग पर दृष्टि तो नहीं जायेगी, किसीके विशाल वैभव पर भी दृष्टि नहीं जायेगी; इस प्रकार मन का कलुषित होना बंद हो जायेगा।

अन्य के वैभव क्यों ना देखे? :

अन्य की मोटरकार, बंगलो आदि देखने से क्या विचार पैदा होते है? या तो ईर्ष्या होगी या आकांक्षा पैदा होगी। मन दीन बन कर सोचेगा कि, 'उसका भाग्य तो देखो ! हमारे भाग्य में यह तमाम सुख नहीं है।' अर्थात् बंगलो, कार इत्यादि महान दिखेंगे, महासुखरूप लगेंगे।

मन को यह विचार नहीं होगा कि, 'अरे ! आत्मभाव को तोड देनेवाला यह कैसा मोहक साधन है ! अभिमान-आसक्ति आदि आत्मा के भयावह रोग का पोषण करनेवाला यह कैसा कुपथ्य !' कितने आत्मा यह विचार करते है? एक सौ में से पाँच भी नहीं ! प्राय: संपूर्ण विश्व दुन्यवी विषयों में आसक्त है।

४. बूड रहा है! : लोभनिग्रह

कुमारपाल जब सिद्धराज के भय से भागते-फिरते थे, तब एक स्थान पर विचित्र दृश्य देखा। किसी सरोवर के किनारे छोटे से मंदिर में मूर्ति के स्वरूप में मात्र मस्तिष्क को पाया, शरीर का बाकी हिस्सा नहीं था। तब कुमारपाल ने किसी से इस बात का रहस्य पूछा। उस व्यक्ति ने वहाँ पूर्व में घटीत प्रसंग सुनाते हुए कहा :

मस्तिष्क के मंदिर की कथा :

एक बार इसी सरोवर में तीन दिन तक पानी से एक मस्तिष्क बाहर निकलकर 'बूड रहा है, बूड रहा है' बोलने लगा और पुन: पानी में अदृश्य हो गया। वहाँ काफी जाँच करने पर भी वह मस्तिष्क पुन: नहीं मिला, ना तो कोई इन्सान और ना ही कोई मस्तिष्क प्राप्त हुआ।

पास के ही नगर के राजा को यह बात ज्ञात हुई। उसने तुरंत अपनी राजसभा के पंडितो को आदेश दिया कि, 'इस रहस्य का वास्तविक अर्थ बताओ कि, 'बूड रहा है, बूड रहा है' का अर्थ क्या है? क्या कोई नगर डूबनेवाला है? या धर्म डूब जायेगा? जो भी अर्थ है, वह एक महीने की भीतर बताओ और प्रमाणसिद्ध अर्थ के साथ ही जवाब देना रहेगा। आप सब को वेतन व्यर्थ में ही नहीं मिल रहा, अब एक माह में सही जवाब बताओ अन्यथा शूली पर चढने हेतु तैयार रहो।'

तमाम पंडित डरने लगे और इस समस्या का समाधान खौजने लगे, किन्तु कोई भी समाधान नहीं मिल रहा था। तमाम पंडित स्वरक्षा हेतु मारवाड की तरफ गये। पलायन हेतु नहीं, क्योंकि स्वयं पलायन कर भी ले, पर परिवार और संपत्ति को कैसे छोडकर जा सकते थे? राजा तो परिवार या संपत्ति पर

भी आपत्तिजनक कदम उठा लेता। अत: कोई बुद्धिमान मानव से इस समस्या का समाधान प्राप्त करने हेतु तमाम पंडित मारवाड की तरफ गये।

अलग अलग नगरों, गाँवो में अनेक विद्वान, पंडित, बुद्धिमान आत्माओं से मिले, पर कोई भी व्यक्ति इस समस्या का समाधान ना कर पाया। आगे बढते हुए मारवाड के एक गाँव में एक बुझुर्ग मिलते है। उन्होंने जाना कि तमाम पंडित परदेश से पधारें है, अत: प्रथम तमाम पंडितो का उत्तम अतिथिसत्कार किया।

मानवता यही तो है ! पूज्य की पूजा और अतिथि का सत्कार मानवता है।

आप भी प्रवचन सुनने आते हो, किन्तु क्या वंदन करके प्रवचन श्रवण करते हो? शायद कुछ देरी से आते हो, तो भले ही खडे हो कर वंदन ना करो, क्योंकि प्रवचनधारा में खलेल हो सकती है, परंतु बैठने से पूर्व एक खमासमण भी देते हो या सीधे बैठ ही जाते हो? साधु तो पूज्य पुरुष है, अत: जहाँ भी मिले उन्हें तो वंदन करना ही चाहिये; तो यहाँ तो उच्च वस्तु ग्रहण करनी है, साधु से मूल्यवान हितोपदेश ग्रहण करना है, क्या यह हितोपदेश बिना वंदन के ग्रहण करना योग्य है? क्या ऐसे कृत्य में मानवता दृष्टिगत होती है? मानवता का अर्थ है : मार्गानुसारी के गुण।

अतिथि–साधु–दरिद्र की उचित प्रतिपत्ति–भक्ति करना मार्गानुसारी गुण है।

(१) '**अतिथि**' अर्थात् जिन्हें धर्म करने हेतु कोई खास तिथि नहीं होती, बल्कि सर्वकाल धर्म की साधना करते है, वह त्यागी मुनि। वह पूज्य है। उनकी उचित प्रतिपत्ति अर्थात् प्रथम नमस्कार वंदना, पश्चात् सुखशाता पृच्छा और तत्पश्चात् भोजन–स्थान–वस्त्रादि का लाभ प्रदान करने हेतु बिनती करना और ज्यादा से ज्यादा लाभ ग्रहण करना। यह तमाम क्रिया पूज्य की पूजा है। इसका पालन करना मानवता है।

(२) '**साधु**' का अर्थ है सज्जन गृहस्थ आगंतुक। उनके पधारने से प्रथम तो 'पधारो ! कहाँ से पधारे हो? कुछ जलपान ग्रहण करें। हमारे लायक कोई कार्यसेवा फरमावे।' इस प्रकार के प्रेमसभर शब्दों से उत्तम आवकार

के साथ भोजन आदि का लाभ ग्रहण करना यह 'साधु-प्रतिपत्ति'। साधर्मिकभक्ति इस दूसरे प्रकार में गिनी जाती है।

साधर्मिकभक्ति के लाभ :

क्या साधर्मिकभक्ति हेतु अधीरापन है? वह मारवाड का वृद्ध पुरुष भी परदेशी पंडितो का अत्यंत आदर सत्कार के साथ भक्ति करनेवाला है। क्या सोचकर स्व-संपत्ति से भोजन बनाकर पराये लोगों को परोसना चाहता है? यही सोचकर कि,

(i) इस भवभ्रमण के सफर में स्वयं आहार करना और परिवार को करवाना तो पशुभोजन के समान है, जबकि अतिथि, साधर्मिक को आहार प्रदान करना ही मानवभोजन है।

(ii) स्वयं का पेट भरते समय हृदय संकुचित रहता है, क्षुद्र रहता है, जबकि अतिथि-साधु-साधर्मिक का पेट भरते समय हृदय विशाल, उदार बन जाता है। जीवन से क्या ले कर जाना है? विशाल, उदार हृदय। यही भाव साथ में आयेंगे। अतिथि आदि की भक्ति ना करने से बचे हुए धन-धान्य आदि परलोक में नहीं आनेवाले, परलोक में तो यह विशाल हृदय ही साथ आयेगा। परलोक में उमदा नहीं, अपितु क्षुद्र हृदय ले कर जाने से बडी दुर्दशा होगी।

(iii) कुदरत त्याग का जवाब देती है, संग्रह का नहीं।

यह तमाम समझ होने की वजह से वृद्ध इन्सान को परदेशी ब्राह्मणों की सेवा करने का भाव प्रगट होता है।

आपके लिए साधर्मिकभक्ति में विशेष लाभ प्राप्त हो सकता है। क्योंकि,

- साधर्मिक स्वयं के धर्म से संबंधित है, आपने जिस धर्म को अपनाया, उसने भी उसी धर्म को अपनाया है। अत: धर्म के प्रति प्रेम-बहुमान वृद्धि करनी हो, तो साधर्मिक पर प्रेम-बहुमान रखना आवश्यक है, उनका गौरव-सेवा करना जरुरी है, तभी प्रेम-बहुमान वास्तविक बन सकता है।

- इतना ही नहीं, साधर्मिक भक्ति से अरिहंत परमात्मा के प्रति भी वास्तविक प्रेम-बहुमान प्रगट होता है। साधर्मिक की उपेक्षा से परमात्मा की उपेक्षा-अवगणना होती है, क्योंकि परमात्मा ने स्वयं सम्यग्दर्शन के आचार स्वरूप साधर्मिक वात्सल्य की बात कही है। तो, इस आचार की उपेक्षा करने पर परमात्मा के वचन की अवगणना होगी और जिनवचन की अवगणना हुई तो जिनेश्वरदेव के प्रति प्रेम-बहुमान कैसा?

यह तमाम बातें सोचकर साधर्मिक का उत्तम सत्कार करना चाहिये। संपत्ति में कोई कमी नहीं होगी। जबकि यह ना करने पर हृदय क्षुद्र और अधम अवश्य बन जायेगा।

मार्गानुसारी अर्थात् मानवता का यह गुण है : 'अतिथि-साधु-दरिद्र की प्रतिपत्ति करना।' इसे भूल जाने पर मानवता भी कैसे टीक पायेगी?

(३) **'दरिद्र'** अर्थात् दुःखी, भिक्षुक, दिव्यांगजन आदि; वह आत्मा यदि हम से कोई याचना कर रहे है, तो यथाशक्ति उसकी भक्ति भी अवश्य करें। इसी भावना को 'दरिद्र की उचित प्रतिपत्ति' कहते है।

यह 'अतिथि-साधु-दरिद्रप्रतिपत्ति' मार्गानुसारी गुण है, मानवता का गुण है, मानवता की महक है, मानवता ही है। भाग्यवान आत्मा को ही यह गुण प्राप्त होते है। अभागीओं को यह भाव जागृत होना तो दूर, बल्कि ऐसी भावना धारण करते है कि, 'यह मुफ्त के नमस्कार क्यों करें? और व्यर्थ के पैसे क्यों बरबाद करें?' कैसा कमभाग्य है ! आर्य अवतार प्राप्त होने के बावजुद भाग्यवान नहीं बन पाते, अभागी बने रहना ही उन्हें पसंद है। ऐसे आत्माओं को कौन बचा पायेगा?

आर्यदेश, आर्यकुल, आर्यसंस्कृति, देव-गुरु-धर्म यह तमाम तत्त्व रक्षण कर सकते है, किन्तु उन्हें ही जिन्हें भाग्यशाली बनना हो। जिन्हें भाग्यशाली बनना ही नहीं, उनके लिये यह तमाम तत्त्व कोई भी रक्षण नहीं कर सकते।

वह वृद्ध पुरुष परदेशी पंडितो का आवकार करते हुए कहता है : 'प्रथम आप मेरे गृह पधारों, पश्चात् हम आगे की बात करेंगे।'

सभी पंडितो को अपने गृह ले गया। 'कहाँ से पधारें, किस प्रयोजन से पधारें' आदि बातें जानकर बोला कि, 'आपकी समस्या का समाधान अत्यंत ही सरल है। यहाँ नदी पास में ही है, अत: आप सर्व प्रथम स्नानादि कर लें, भोजन कर लें, पश्चात् त्वरित 'बूड रहा है, बूड रहा है' का समाधान देता हूँ। ऐसा समाधान होगा कि राजा प्रसन्न हो जायेंगे। आप सर्व चिंतामुक्त हो जायें।'

पंडित थके हुए थे और वृद्ध पुरुष के घर उन्हें तमाम प्रकार की सुविधा भी प्राप्त हो गई; इतना ही नहीं, समस्या का समाधान प्राप्त हो रहा है अर्थात् शूली की सजा भी टल जायेगी। इसलिए तमाम पंडित निश्चिंत हो गये। स्नानादि करके भोजन किया और वृद्ध पुरुष से 'बूड रहा है, बूड रहा है' शब्द का समाधान माँगने पर वह वृद्ध पुरुष कहता है कि,

'समाधान मात्र एक शब्द से ही प्राप्त होता है। वह तो मैं आपको बता ही दूँगा, किन्तु आप सब इतना लंबा सफर करके यहाँ तक पधारे हो, तो क्या आपकी यह यात्रा असफल हो यह चलेगा? देंखो; यहाँ के कुत्ते सुंदर और मजबूत दिखते है। आप एक-एक करके अपने साथ ले जाओ। आपका मनोरंजन भी होगा या उन्हें बेचकर अच्छे पैसे भी मिलेंगे। यहाँ बिना पैसे के ही मिल जायेंगे, कोई इनका पैसा नहीं माँगेगा।'

परदेशी ब्राह्मणों ने भी सोचा कि, 'यह सौदा गलत तो नहीं है, मुफ्त में ही मिल रहे है, तो ले लेते है।' यह सोचकर तमाम ब्राह्मण एक-एक श्वान पकडकर ले आते है।

यह दृश्य देखकर ही अब वृद्ध पुरुष आश्चर्य और दु:ख के साथ बोलता है कि, 'अरे ! आपने यह क्या किया? ये किसे उठाकर ले आये?'

पंडितो को भी यह सुनकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने भी प्रत्युत्तर दिया : 'आपने ही तो कहा था श्वान को ले आओ।'

वृद्ध पुरुष कहता है : 'अरे ! किन्तु आप सर्व तो शास्त्रज्ञ पंडित हो। मेरे जैसा अनपढ इन्सान तो कुछ भी बोल देगा, किन्तु आपको भी तो विचार नहीं करना चाहिये? आप सर्व स्नान करके पवित्र हुए थे और अब अशुचिमय

श्वान को उठा लाये और अपवित्र बन गये। आप सब अपवित्र पंडित परमात्मा का नाम भी नहीं ले पाओंगे। शुद्ध होने पर ही 'ऊँ नमः शिवाय' के पवित्र अक्षर बोल सकते हो। मात्र एक श्वान के लोभ में अब पुनः स्नान करने तक आप सर्व को परमात्मा का नाम लिये बिना ही रहना पडेगा।'

पंडित कान पकडकर कहते है : 'आपने सही कहा। हम दौबारा नदी में स्नान करने जायेंगे। श्वान की भी जरुर नहीं है, किन्तु कृपया हमें हमारा समाधान तो दे दो।'

'बूड रहा है' का समाधान :

वृद्ध कहता है : 'अरे ! अब समाधान भी क्या दूँ? समाधान आपके समक्ष प्रस्तुत ही है। आप सर्वजन श्वान की लालच में बह गये। इस लालच की वजह से आपने पवित्र शौचधर्म गँवाया, परमात्मा के नाम का जाप भी गँवाया। समस्त जगत लोभ में बूड रहा है अर्थात् डूबा हुआ है; यही उस सरोवर में प्रगट हुए मस्तिष्क का कहना था। पुनः जल्दी पधारना।'

कुमारपाल को वह व्यक्ति मानव मस्तिष्क के मंदिर का रहस्य बताते हुए कहता है : 'सर्व पंडित वहाँ से निकलकर राजा के पास पधारें और तमाम हकीकत के साथ समाधान भी बताया। वह समाधान उपस्थित तमाम सभाजनों ने भी स्वीकारा। और लोगों को सदा याद रहे कि,

पाप से बचना हो, धर्म को ना गँवाना हो तो लोभ-लालच में आसक्त ना रहकर लोभ-लालच को काबू में रखों; यह बताने हेतु यहाँ मंदिर बनाकर उसमें मस्तिष्क मूर्ति स्थापित की है।'

कुमारपाल यह तमाम घटना सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने सोचा कि, 'वाह ! अत्यंत अद्‌भूत रहस्य है ! जगत लोभ में ही डूबा हुआ है, लोभवश अयोग्य कार्य भी करते है। यह लोभ अत्यंत भयावह है। लोभ के पाप से अन्य अनेक दुष्कृत्य भी पैदा होते है। यह बात मेरे लिये बोध के समान है, अतः मैं भी लोभ से बचकर रहूँगा।'

कुमारपाल ने वह बोध जीवन में अपनाया, यह बात उनके सम्राट राजा बनने के पश्चात् भी उनके जीवन प्रसंगो से ज्ञात होती है।

सम्राट कुमारपाल ने कब लोभ को दबाया? :

(१) जब उन्हें कुबेर सेठ की पुत्ररहित मृत्यु के समाचार प्राप्त हुए तब महाजन उन्हें कहते है : 'महाराज ! राजकीय नियमानुसार आप कुबेर सेठ की करोडों की संपत्ति ग्रहण करें, तत्पश्चात् हम उनका मृतकार्य करेंगे। पहले मृतकार्य करेंगे, तो गुन्हा कहलायेगा।'

कुमारपाल राजा को यह बात सुनकर क्या भावना हुई? करोडों की संपत्ति प्राप्त करने की कोई दानत नहीं और कोई लालच भी नहीं। इस लालच में उन्होंने भयावह दुष्कृत्य ही देखा। उन्होंने सोचा कि, 'इतना ज्यादा धन ग्रहण कर लेने के पश्चात्

(i) कुबेर सेठ की माता-पत्नी आदि परिवार का हृदय कितना व्यथित हो जायेगा?

(ii) जीवनपर्यंत अति आक्रंद, कषाय और दुर्ध्यान करके कितने कर्मबंधन करेंगे?

(iii) मैं भी कितने बाप करूँगा? क्योंकि कहा जाता है कि, 'पुत्र हो कर ग्रहण करो, बाप हो कर नहीं' तो जितने भी अपुत्रों का धन ग्रहण करूँ, उन सब का पुत्र कहलाऊँगा !

(iv) और बिना अधिकार का धन ग्रहण करने पर धन लूँटने में, मृतक की मृत्यु में संमति-अनुमति भी लग जाती है। मन में यह सहज विचार पैदा हो जाते है कि, 'वह मर गया, परंतु धन तो मिल गया।' इस प्रकार किसी की मृत्यु पर आनंद पैदा हो सकता है।'

कुमारपाल ने यह तमाम अनर्थकारी कार्य देखकर पुत्ररहित मृतक के धन का मोह छोड दिया और इस प्रकार कभी भी धन ग्रहण नहीं करने का दृढ संकल्प किया। राजकीय नियम अनुसार करोडों की संपत्ति-प्राप्ति का लोभ त्याग दिया।

क्या आप इस प्रकार त्याग कर सकते हो? कुमारपाल को उनकी पदवी अनुसार धन प्राप्त हो रहा था, आपको उतना धन तो ना भी

मिले, किन्तु आपकी योग्यतानुसार इसी तरह मुफ्त में, बिना मेहनत के या द्रोह-विश्वासघात से या विशेष प्रकार के झूठ या अन्याय से या धर्मबाधक व्यापार से धनप्राप्ति हो रही हो, तो वह लोभ-त्याग करने की तैयारी आप में है?

(२) कुमारपाल के लोभ-निग्रह का दूसरा उदाहरण - कुमारपाल को ५५ वर्ष की उम्र में राजसिंहासन प्राप्त हुआ और सिद्धराज के सीधी रेखा में वारसदार ना होने से अनेक छोटे राजा बगावत करने लगे। उनको अपनी आज्ञा में लेते हुए १५ वर्ष बीत गये, तब जा कर ७० वर्ष की उम्र में १८ देश का संपूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् उनकी रानी का देहांत हुआ।

मंत्रीओं ने कहा : 'महाराज ! पुनर्विवाह करो, क्योंकि कुछ कार्य-प्रसंगो में पत्नी के साथ ही मंगलक्रिया होती है। अत: रानी का होना आवश्यक है।'

कुमारपाल ने क्या किया, जानते हो? यह लोभ भी त्याग दिया। बडी उम्र में प्रसन्नता से राज्यसुख का आनंद उठाने का अवसर प्राप्त हुआ है, तब भी दूसरा विवाह नहीं किया। मंत्रीओं को कह दिया : 'उन तमाम विधियों में मेरे साथ सद्गत रानी का स्वर्णबिंब रख देना, हम युगल ही कहलायेंगे।'

सोचने की बात है कि संसारसुख उन्हें कब प्राप्त हुआ और कितने वर्ष पूर्ण ब्रह्मचर्य? आपने कितने वर्ष से संसारसुख देखे है और अब पिछली उम्र में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन है ना?

(३) इतना ही नहीं, रानी जीवित थी, तब भी श्रावकधर्म की प्राप्ति के पश्चात् कुमारपाल राजा चातुर्मास के चार महीने संपूर्ण ब्रह्मचर्य नियम का पालन करते थे ! नियम भी इतना कठीन कि मन से भी भंग हो, तो प्रायश्चित्त के स्वरूप उपवास करते थे। विषयसुख का लोभ किस हद तक त्याग दिया होगा?

१८ देश के सम्राट को यह नियम लेना चाहिये, आप को नहीं? 'सुखसाधन प्राप्त हुए है, तो बस उसका आनंद उठाओ, त्याग-संयम

की बात तो आपको रास ही नहीं आती ना?' कोई पूछनेवाला भी नहीं है ना? क्या जीव को तृप्ति होगी? भूतकाल में सुख नहीं देखा? सुख की इतनी तालावेली क्यों? विषयलंपट बनने की कोई सीमा भी नहीं? श्री जिनेश्वरदेव और उनके शासन की प्राप्ति होने के बावजुद यह दशा? मन को विचार भी नहीं होता कि, 'क्या मेरी आत्मा इन्द्रिय और रूप-रसादि विषयों की गुलाम ही रहेगी? मेरी आत्मा का अर्थात् मेरा कोई वर्चस्व भी नहीं है? इन नास्तिक इन्द्रियों का और तुच्छ विषयों का ही वर्चस्व क्यों?'

(४) महाराजा कुमारपाल ने विषयसुखों का लोभ किस हद तक त्याग दिया होगा? चातुर्मास के चार महीने एकासना ही करते थे ! प्रतिदिन ५ विगई का त्याग ! प्रतिदिन लीलोतरी बंद !... क्यों करते थे यह त्याग? क्योंकि लोभ में भारी पाप और अनर्थ देखे थे, तभी इस लोभ को परास्त करना था।

सोचिये, यह चौथे आरे के नहीं, बल्कि पाँचवे आरे के पुरुष की बात हो रही है। जीवन में धर्म को जाज्वल्यमान बनाने हेतु कुमारपाल राजा अद्‌भुत आलंबन हे, उत्तम उदाहरण है।

कुमारपाल की बहन का धर्मप्रेम :

(५) कुमारपाल राजा का यह लोभ-निग्रह भी देंखो, जब उनके बहनोई राजा अर्णोराज उनकी रानी - जो कुमारपाल की बहन थी - उनके साथ चोपाट खैलते हुए प्यादा शब्द के बदले बोल उठे कि, 'मार-मार, मुंडीये को मार।'

तभी रानी बोलती है : 'ऐसे शब्दों का प्रयोग मत करो। मुंडीया शब्द के द्वारा साधु भगवंत की हाँसी होती है। और साधु तो मेरे भाई कुमारपाल के गुरु है, यदि उन्होंने आपकी वाणी जान ली, तो आपको ही भारी पडेगा।'

यह सुनकर राजा भी अभिमान में पुन: बोलता है : 'तुं चिंता मत कर और इस मुंडीये को मार। तुम्हारा भाई क्या कर लेगा? उसे राजसिंहासन तो मैंने ही दिलवाया था।'

रानी कहती है : 'यही बात है, तो आप भी देख लेना कि अब आगे क्या होता है !'

राजा कहता है : 'जो होगा, देखा जायेगा। मैं 'मुंडीये को मार' बोलता ही रहूँगा, जो करना है कर लो।'

रानी से इस प्रकार साधु भगवंत का मजाक सहन नहीं हुआ। वह सीधे अपने भाई के पास पहुँची और तमाम बात कही। कुमारपाल ने युद्ध की तैयारी शुरु की। यहाँ एक बात यह भी देख सकते है कि बहन को यह भय भी नहीं है कि, 'युद्ध में यदि पति की मृत्यु हो गई और मैं विधवा बन गई तो?'

धर्म के वास्तविक प्रेम की बात ही कुछ ओर है।

धर्म का अपमान होता हुए दिखे, धर्म पर कोई संकट दिखे, तब धर्म के वास्तविक प्रेमी का सत्त्व खील उठता है और वह आत्मा धर्मरक्षा और धर्म के सम्मान की खातिर कुछ भी करने को तैयार हो जाता है।

'मैं विधवा बनूँ तो बनूँ, किन्तु धर्म का अपमान तो बिलकुल सहन नहीं हो सकता' यही धर्मप्रेम यहाँ दृश्यमान हो रहा है। आपकी संतान धर्म विरुद्ध गलत मार्ग पर चल रही हो, तो आप उस मार्ग को मान्य रखते हो या फिर उसको ठिकाने पर लाने के लिए स्वयं का कुछ भी बलिदान देने के लिए तैयार रहते हो?

रानी जैसे ही कुमारपाल के पास गई, तब अर्णोराज को यह समझ आ गया कि अब कुमारपाल सेना लेकर आनेवाले है। इसलिए उसने तुरंत ही कुमारपाल के सेनापति आदि मुख्य पदधारकों को लांच-रिश्वत दे कर अपने पक्ष में कर लिया।

कुमारपाल सेना लेकर अर्णोराज के प्रदेश में जाते है। प्रातः काल होते ही सैन्य को आगे बढने का आदेश देते है, किन्तु सेना आगे नहीं बढती, वहीं के वहीं स्थिर रहती है।

कुमारपाल हाथी पर बैठे थे। उन्होंने महावत से पूछा : 'यह क्या हो रहा है, कोई आदेश क्यों नहीं मान रहा?'

महावत बोलता है : 'महाराज ! प्रतीत होता है कि सेना में विद्रोह हुआ है।'

'तो कौन हमारे पक्ष में है?'

'मैं और हाथी ! फिलहाल हम दोनों ही आपके पक्ष में है।'

कुमारपाल तमाम स्थिति को समझ चूके थे, पर सत्त्वशाली बाहोश योद्धा थे, भयभीत नहीं हुए। क्योंकि उन्होंने यह तो समझ लिया था कि, 'अब रोते रहने से कोई फायदा नहीं। अत: सत्त्व जागृत करके पुरुषार्थ करना ही उत्तम है।'

शुभफल की अपेक्षा पुरुषार्थ से ही है, रुदन से नहीं।

कुमारपाल का समय पर सही साहस :

कुमारपाल अपने सेनापति या अन्य किसीको समझाने नहीं जाते, क्योंकि यदि वह व्यक्ति अब प्रतिपक्षी बन चुका है। अत: कुमारपाल को पकडकर दुश्मन राजा को सौंप सकता है और फलस्वरूप जीवनपर्यंत अपमानित दशा और कैद प्राप्त हो सकती है। बेहतर यही है कि अब जीवन-मृत्यु का ही खैल खेला जाये !

कुमारपाल महावत को आदेश देते है : 'कोई चिंता नहीं है, गभराने की जरुरत नहीं है। हाथी को तैयार करो और सीधे अर्णोराज के हाथी की तरफ ले जाओ।'

महावत ने भी कुमारपाल की आज्ञानुसार हाथी को भगाया, यह देखते ही अर्णोराज जोरो से सिंहनाद करवाने लगा, जिसे सुनकर हाथी आगे नहीं बढ रहा था।

कुशाग्र-बुद्धि के मालिक कुमारपाल ने तुरंत अपना उत्तरवस्त्र निकालकर उसके दो भाग कर दिये और महावत को कहा : 'यह दोनों टुकडे हाथी के दोनों कान में ठीक से रख दो।'

महावत ने भी तुरंत दोनों कपडे हाथी के कान में इस प्रकार रख दिये कि अब हाथी को सिंहनाद नहीं सुनाई पडता था। अब यह राजहस्ति

तेजी से दौडने लगा और मदोन्मत्त बना हाथी जैसे ही दौडते हुए अर्णोराज के हाथी के करीब आया।

तुरंत ही कुमारपाल ने बडी छलांग लगाई और अर्णोराज के हाथी की पालखी में पहुँचे। अर्णोराज को कल्पना भी नहीं थी कि कुमारपाल अचानक ही इस प्रकार छलांग लगाकर उसके पास आ जायेंगे। वह तो विचारों की दुनिया में ही था, तभी

कुमारपाल बिना क्षण गँवाये उसकी छाती पर पैर रखकर, तलवार उठाकर बोलते है : 'नराधम ! मुंडीया बोलनेवाला तुं? अब बोल क्या कहना चाहता है? अभी तेरा सरकलम कर देता हूँ।'

अर्णोराज तो डर गया : 'हाय ! अब मैं तो मरने ही वाला हूँ।' यह सोचकर तुरंत माफी माँगता है और बोलता है : 'मेरी भूल हो गई, मैं आपकी गाय हूँ, अभयदान की याचना करता हूँ।'

यह तमाम घटना इतनी जल्दी हो गई कि अर्णोराज की सेना को उसकी रक्षा करने का समय ही प्राप्त नहीं हुआ। साथ ही, कुमारपाल सम्राट की हिंमत और शौर्य देखकर सेना भी आश्चर्यचकित हो गई। और अब रक्षा करने आयेगी भी कैसे? अगर किसीने कदम बढाये, तो कुमारपाल तुरंत अर्णोराज को खत्म कर देते, तो अर्णोराज की रक्षा होती भी कैसे? सेना को कुमारपाल की जयकार करनी ही पडी, जिसके कारण अर्णो राज को अभयदान प्राप्त हो। यह जयकार जोरो से गुँजने लगी जिससे कुमारपाल की सेना भी पुनः उनकी सेवा में लौट आई।

मूल बात तो यह है कि, यहाँ भी कुमारपाल लोभनिग्रह की उत्तम मिसाल कायम करते है। प्रथम तो अर्णोराज द्वारा साधु का अपमान और दूसरा कुमारपाल की सेना में विग्रह करवाने का कार्य, यह दोनों कार्यों के आधार पर कुमारपाल भले ही अर्णोराज को मार ना दे, किन्तु आजीवन कैद में रख सकते थे और उसका राज्य भी ग्रहण कर सकते थे, किन्तु उन्होंने यह लोभ नहीं रखा और अर्णोराज को क्षमा प्रदान कर उसका राज्य उसे लौटा दिया। आप सोचेंगे कि,

प्रश्न : बहन के प्रति प्रेम होने से यह किया होगा ना?

उत्तर : नहीं, बहन के प्रेम से तो बहनोई अर्णोराज को तो स्वयं के विशाल महल में ही रख सकते थे, तमाम सुख-सुविधा भी प्रदान कर सकते थे, नजरकेद के स्वरूप में। ऐसा करने पर बहन के सुख में कोई परेशानी नहीं होती। अत: बहन के प्रेम में नहीं, बल्कि लोभ के निग्रह से राज्य का त्याग किया।

लोभ करने में आत्मीय नुकसान तो है ही, परंतु यह भी जाना होगा कि लोभ से अर्णोराज का राज्य ग्रहण करने से वह मन में कलुषित विचार करने लगेगा और कैद में रहते हुए भी संभावना है कि कोई ना कोई योजना बनायेगा। ऐसा करने पर पुन: कोई आपत्ति आयेगी। जबकि, उदारता रखने से तो आजीवन एहसान के नीचे बना रहेगा। तो, लोभ करके अनर्थ को क्यों आमंत्रण देना?

लोभत्याग में लौकिक लाभ :

यह लौकिक चतुराई समझने योग्य है। मनुष्य लोभ के वश हो कर इस प्रकार प्रगति करता है कि दिखने में तो काबिल सफल इन्सान लगता है, परंतु वास्तविकता में अनेक लोगों से दुश्मनी मोल लेता है। लोभ ना करते हुए यदि उदारता का गुण अपनाया जायें, तो कोई भी इन्सान आजीवन एहसान के तले रहता है, वैरी मित्र बन जाता है, शत्रु सेवक जैसा बन जाता है। यहाँ बात लोभनिग्रह - उदारता के साथ साथ खामौशी की भी है।

सम्राट कुमारपाल ने किस हद तक खामौशी को अपनाई? स्वयं की पूर्णत: सेना को द्रोही बनानेवाले अर्णोराज पर उन्होंने दया की ! उसे क्षमा, जीवनदान और राज्य प्रदान दिया ! इतना ही नहीं, तत्पश्चात् स्वसेना के किसी भी अधिकारी को कोई सजा-दंड नहीं दिया, क्रोध तक नहीं किया !

एक हिसाब : 'काम से काम... कार्य पूर्ण हुआ फिर वैर-विरोध-अरुचि करके क्या फायदा? सामनेवाले के नष्ट हो चुके दोषों की बातें क्यों करना?' खामौशी की यही रीत है।

मन में बातें ना भरने से हृदय प्रसन्न रहता है, स्वच्छ रहता है।
बातें भरे रखने से अशांति–अप्रसन्नता–मायामलिनता का पोषण होता है।

हिसाब तो यही होना चाहिये : 'काम से काम रखो, कार्य पूर्ण हुआ है, तो अब बातें मन में भरने से कोई फायदा नहीं। व्यर्थ में मन कलुषित होता रहेगा।'

कुमारपाल की यही खामौशी को स्मरण में रखा जाये, तो छोटी–छोटी बातों में खामौश रहने का मन सहज ही हो जाता है। ऐसे सत्ताधीश भी भारी गुनाह करनेवाले को माफ कर सकते है, तो अनेक बार तला हुआ पापड भी तोडने की हिंमत ना रखनेवाले हम मामूली गुनाह करनेवाले को या भूल करनेवाले को क्षमा क्यों नहीं दे सकते?

बात यही है कि कुमारपाल ने अनेक विशाल प्रलोभक घटनाओं में भी लोभ का निग्रह किया था, लोभ का त्याग किया था। क्यों? पूर्व में वह मस्तिष्क की घटना के द्वारा उन्होंने यह जान लिया था कि, 'जगत–मात्र लोभ में डूब रहा है। और इस लोभ के मोह में अयोग्य कृत्य भी कर देता है। अत: उत्तम मनुष्य के भव में इस लोभ का मूल से ही त्याग करना है।'

५. वैश्या के घर अधःपतन

कामलता का वैश्या के साथ संयोग :

वैश्या भी कामलता को देखकर सोचती है : 'यह रूपवान और युवान स्त्री मुझे मिल जाये, तो राजा जैसे ग्राहक मुझे मिल सकते है। दुनिया लोभ से वश हो कर विषयसुखों में आसक्त हो ही जाती है, इसलिए इस स्त्री को किसी भी हालत में स्वगृह ले जाना ही है, फिर तो सब अच्छा ही होगा।'

कामलता यह नहीं जानती की वह स्त्री वैश्या है, अत: उसके मायावी वचन सुनकर सोचती है : 'इस स्त्री के साथ जाना उचित है, वैसे भी मैं कहाँ-कहाँ भटकती रहूँगी? यह स्त्री स्वयं ही आमंत्रण दे रही है, तो अब इसके गृह जाना उचित रहेगा।' यह सोचकर कामलता वैश्या के साथ उसके गृह गई। गृह पहुँचकर कामलता की वहाँ भोजन, वस्त्र आदि तमाम बातों की व्यवस्था हो गई, जिससे उसका मन निश्चिंत और प्रफुल्लित बन गया।

क्या यह निश्चिंतता और प्रफुल्लितता अच्छी है? :

नहीं, क्योंकि आगे हम जानेंगे कि किस प्रकार कामलता उस वैश्या के दाक्षिण्य में फँसकर पापमार्ग में आगे बढती है। अनेक पुरुष है, जो सुंदर और प्रेम करनेवाली स्त्री प्राप्ति होने पर निश्चिंत और प्रफुल्लित हो कर उसके दाक्षिण्य में डुबकर स्वयं की पूर्व धर्मलगन, धर्मप्रवृत्ति और उदारतादि गुण गँवा देते है।

उसे यदि पूछा जाये कि, 'क्यों भाई ! अब आपके धार्मिक विचारों में परिवर्तन क्यों हो गया?'

तो बचाव में कहेगा कि, 'क्या फर्क हुआ? देवदर्शन-पूजा इत्यादि कर ही रहा हूँ।'

'अरे ! किन्तु पूर्व में आपका जो धर्म के प्रति प्रेम, समय देना इत्यादि अब तो नहीं है।'

'ऐसा कुछ नहीं है। संसार की उपाधि की वजह से समय कम दे पाता हूँ।'

सोचों, भूल का एकरार करने की बात ही नहीं, कोई अफसोस ही नहीं और 'अब सुंदर पत्नी मिल गई है, अत: निश्चिंत-प्रफुल्लित हो गया हूँ। अब धर्मप्रेम पूर्ववत् नहीं रहा।' इस प्रकार एक अक्षर भी नहीं बोलेगा, जबकि हृदय में तो यही बसा हुआ होता है।

स्त्री-पैसा-मकान-दुकान-मान-सम्मान आदि दुन्यवी विषय है। दुन्यवी विषय में चिंतामुक्त और प्रफुल्लित हो जाना खतरनाक है, आत्मा को परलोक और धर्म का अस्तित्व ही भूलाने में सशक्त है और समय-समय पर पापवृद्धि करने में समर्थ है।

आज यह कई स्थानों पर दिखता ही है कि पुत्र मनचाही पत्नी मिलने पर निश्चिंत और प्रफुल्लित हो कर महाउपकारी माता-पिता से ही अलग हो जाते है ! माता-पिता के अथाग उपकार के प्रति उनकी सेवा-भक्ति करके अंशमात्र बदला चुकाने का अवसर मिलता है, तभी वह बेटे सेवा-भक्ति को भूला देते है !

विवाह नहीं हुआ, तब तक पुत्र को निश्चिंतता-प्रफुल्लितता अच्छे माता-पिता में ही दिखती थी, अत: धर्मसाधना की विशेष रुचि नहीं थी और विवाह के पश्चात् अब वही निश्चिंतता-प्रफुल्लितता अच्छी पत्नी में दिखती है, अत: अब माता-पिता की सेवा-भक्ति में रुचि ना रही !

सांसारिक प्रलोभनों में निश्चिंतता-प्रफुल्लिता तो एक प्रकार का नशा है, यह नशा विक्षिप्त बना देता है। धर्मकर्तव्य, परोपकार आदि का कोई होश नहीं रहने देता।

सार यही है कि **कोई भी सांसारिक विषयों में निश्चिंत और प्रफुल्लित ना बने, अन्यथा इसके नशे में भारी नुकसान उठाना पडेगा।**

- इलाचीकुमार को नटकन्या में निश्चिंतता हुई, तो उत्तम श्रीमंत कुल का वंश होने के बावजूद भी कुलमर्यादा का भंग किया, गौरववंत व्यापार छोड दिया और स्वयं नट बनकर मार्ग में नाटक करने लगा।

- कोणिक को मगधदेश के विशाल साम्राज्य में निश्चिंतता हुई, तो अपने ही पिता राजा श्रेणिक को बंदी बनाकर प्रतिदिन ५० कोडे मारने का आदेश दे दिया ! और मातामह राजा चेडा के साथ युद्ध किया !
- मम्मण ने अमाप धन में निश्चिंतता देखी और सातवीं नरक के पाप बाँधे। श्री महावीर स्वामी का जीव, त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में सत्ता-संपत्ति और भोगविलास में ही निश्चिंतता देखी, तो उन्होंने भी सातवीं नरक के द्वार खोल दिये।

सातवीं नरक का अर्थ समझते हो ना? प्रथम नरक के दु:ख भी अत्यंत जालिम है; इस लोक से अनंत गुना ज्यादा वेदना-पीडा-दु:ख ! उससे ज्यादा दु:ख दूसरी नरक में, उससे ज्यादा तीसरी नरक में, इस प्रकार सातवीं नरक में सर्वाधिक दु:ख और वह भी सो-हजार-लाख वर्ष तक नहीं, बल्कि असंख्य वर्ष का १ पल्योपम ३३० क्रोडाक्रोड बार बीत जाये, तब तक निरंतर यह पीडा सहनी पडती है।

यह किसका फल है? दुन्यवी पैसा, सत्ता, सम्मान, विषय-विलास आदि के मिलने पर निश्चिंतता-प्रफुल्लितता का अनुभव करने का फल है।

समझदार बनों, इन सांसारिक विषयसुखों में निश्चिंत-प्रफुल्लित नहीं बनना है। निश्चिंतता और प्रफुल्लितता का अनुभव तो देवाधिदेव, जिनशासन, सद्गुरु, धर्मसाधना, सुकृतसाधना और क्षमादि गुण में ही करना है।

कामलता भी गलत स्थान पर फँस गई, वैश्या के घर भोजन-वस्त्र आदि की प्राप्ति में निश्चिंतता-प्रफुल्लितता का अनुभव करने लगी। इसी कारण उस पर वैश्या का दाक्षिण्य शुरु हो गया। परिणामस्वरूप वैश्या उसको अपनी बातों में फँसा रही है और कामलता भी उसकी बातों में फँस रही है।

वैश्या कामलता को कहती है : 'देख बहन ! तुम्हारा पति अचानक ही मर गया और तेरे जीवन में अनेक दु:ख आ पडे। हाय ! यह कैसी दशा हो गई कि युवानी अभी तो खील ही रही थी कि जीवन में कोई सुख ही नहीं रहे ! इस परदेश में कौन से रिश्तेदार देखने आयेंगे कि अब तुं क्या कर रही है? मेरी बात मान, इस युवानी को बरबाद ना कर।'

कामलता ब्राह्मणी वैश्या की पनाह में निश्चिंत बन चुकी थी, फलतः वह उसके दाक्षिण्य में बहकने लगती है और जवाब देती है : 'हाँ बहन ! तुम्हारी बात बिलकुल सही है।'

क्या यह सही बात है? कामलता को यह भान नहीं रहा कि, **युवानी खीलने पर मनोगम्य भोगविलास के विचार ही करने हो और शील, सदाचार आदि कोई मर्यादा ही ना बनानी हो, तो श्वानादि जानवर के भव ही भले थे !**

मानवावतार में तो कुछ मर्यादाओं का पालन तो सहजरूप से होगा, जैसेकि मार्ग में आते-जाते कोई रूपवान पुरुष-स्त्री दिखने पर मन किया, फिर भी उसे आलिंगन तो नहीं दे सकते, जबकि श्वानादिक जानवर के भव में तो इस प्रकार कोई अंकुश नहीं, कोई मर्यादा नहीं, निरंकुश विषयसेवन होता है, तो क्या यह अवतार योग्य है?

तो क्या परमात्मा को प्रार्थना करनी है : 'प्रभु ! मुझे यह मानव अवतार नहीं चाहिये, जिसमें सुख की आड में सामाजिक-व्यवहारिक बंधन होते है। बंधनरहित यह श्वानादिक अवतार ही दे।' क्या परमात्मा से इस प्रकार याचना करनी है? नहीं; क्यों? जवाब है :

बंधन-अंकुश-मर्यादा वह कष्ट नहीं, बल्कि विवेक है।

जिसे बंधन नहीं, अंकुश नहीं, वह अविवेक में डुबा हुआ अतृप्त राक्षस की भाँति व्यवहार करता है। उसकी तृष्णा सीमारहित हो जाती है, तो क्या वह सुखी बनता है? तत्काल कोई सुख मिले, उस पर भरोसा करना व्यर्थ है।

शराबी भी निरंकुश बनकर शराब पीता है और सुखप्राप्ति मानता है, तो क्या वह सुखी है? यदि हाँ, तो क्या आप उस सुख की कामना करते हो? **सुख का अनुभव कब होता है? जब तृष्णा पर अंकुश हो तब।**

वैश्या कामलता को समझाती है : 'यह जवानी भोगसुख के बिना व्यर्थ हो रही है।' यह कैसी विपरीत समझदारी है? यह तिर्यंचगति की समझ है या मानवगति की? अनार्य की समझ है या आर्य की? आर्य मानव का उत्तम पवित्र हृदय यही मान सकता है कि,

भोग तो उलझन है, त्याग शोभा है, निश्चिंतता है, स्वस्थता है।

भोगीओं के जीवन देखों और त्यागीओं के जीवन देखों। दोनों में से कौन उलझा हुआ है? कौन स्वस्थ और शोभायमान है? और स्त्री की शोभा कहाँ है? जब अनेक पत्नी का रिवाज था, तब भी क्या स्त्री ने अनेक पति किया हो; यह सुना है? क्यों नहीं? अनेक पति के मध्य एक स्त्री हो; यह बेहुदा वर्तन है। युवानी विषयसेवन से रहित बरबाद हो रही है, तो यह बंधन क्यों कि अनेक पति ना कर सके? पति महीने या छः महीने के लिये परदेश चला जाये, तो पत्नी की युवानी बरबाद हो रही है क्या?

कामलता वैश्या बनती है :

वैश्या का विचार तो यही है कि विषयसुख के बिना युवानी बरबाद ही होती है, अतः वह कामलता ब्राह्मणी को फोसला रही है कि, 'युवावस्था को बरबाद ना कर।' दाक्षिण्य से लिप्त कामलता भी उसकी बात को 'सही कहा' बोलकर अपनी संमति प्रदान कर देती है। अब तो वैश्या को मनचाही स्थिति मिल गई। बार-बार वह कामलता को यह विषयसेवन का जहर देती गई और परिणाम स्वरूप अंत में ब्राह्मणी को भी वैश्या बना ही दिया।

जीव को स्वयं अकार्य करना हो, स्वबचाव की कोई तमन्ना ही ना हो, तो उसे कौन बचा सकता है? कर्मसत्ता ने भी तत्काल दंड प्रदान करने का हिसाब नहीं रखा; अन्यथा जीव उस दंड से गभराकर अकार्य का त्याग कर सकता है। कर्मसत्ता का हिसाब तो विपाक होने पर दंड प्रदान करने का है। ज्यादातर दंड तो परभव में ही मिलता है, तो फिर कौन अकार्य करने से डरेगा?

कर्मसत्ता का दंड भले ही बाद में मिले, किन्तु कर्मसत्ता के दंड को अनदेखा ना करें।

अनदेखा करनेवाले अनेकों ने दंड प्राप्त किये है, यह ज्ञानीओं के वचन से ज्ञात होता है।

- वर्तमान में अनेक निर्दोष जीव भयंकर पीडा का वहन क्यों करते है?
- भेड-बकरीयां आदि निर्दोष होने के बावजुद कतलखानें में क्यों कट रहे है?
- कीडे-मकोडे जैसे छोटे जीव बेगुनाह हो कर भी क्यों कुचलकर मारे जाते है?

- मच्छर जैसे जीवों को डी.डी.टी. जैसे पदार्थों से मारनेवाले क्या सोचते भी है कि, 'इन जीवों का कोई गुनाह नहीं, फिर भी उन्हें क्यों इस प्रकार मरना पडता है? जब वह जीव उसके पूर्वकृत पापों के आधार पर यहाँ कर्मसत्ता का दंड भुगत रहे है, तो मैं भी क्यों अन्य जीवों को मार डालने का भयावह कृत्य करूँ, जिसके द्वारा मुझे भी परभव में कर्मसत्ता का दंड भुगतना पडे?' यह विचार नहीं है, तभी तो खुशमिजाजी बनकर डी.डी.टी. आदि जंतुनाशक पदार्थों का उपयोग करके वह अनगिनत निर्दोष जीवों को समाप्त कर देता है।

जैनधर्म पा कर भी ऐसी क्रूरता की जा सकती है? वह भी क्षणिक सुख की खातिर? जीवसृष्टि यही समझा रही है कि यहाँ वह निर्दोष होने के बावजुद पूर्वकृत पापों की वजह से यहाँ वह भयावह दु:ख की सजा भुगत रही है। बिना गुनाह के सजा तो होती नहीं, अत: गुनाहवृत्ति का त्याग करो।

तत्काल सजा नहीं मिल रही वह मत देखों, किये हुए गुनाहों की सजा भविष्य में भी अवश्य मिलेगी ही; यह देखों।

कामलता विक्षिप्त बनकर वैश्यावृत्ति में रक्त हो गई और परलोक में भयावह परिणाम मिलेगा; इस बात का कोई ख्याल ना रखा। सोचों, कहाँ एक समय की सुशील ब्राह्मणी और अब वैश्या !

एक बार सत्त्व गँवाने के पश्चात् जीव का अध:पतन मर्यादा का उल्लंघन कर ही देता है।

विषय-कषाय में सत्त्वनाश :

रानी बनते समय सत्त्व गँवाया, अब वैश्यावृत्ति में भारी अध:पतन को झेलना पडा। अध:पतन की कोई मर्यादा तक ना रही। अत: अवश्य ध्यान रखे कि सत्त्व को गँवाना ना पडे।

- एक बार भी सत्त्व गँवाकर अकार्य ना करें।
- सत्त्व गँवाकर विषयासक्त ना बने और
- क्रोध-मान आदि कषायों को आमंत्रण ना दे।

स्मरण रहे, विषयों की गुलामी में और कषायो की परवशता में सत्त्व का नाश होता है।

६. सत्त्वहीनता = मुडदाल मन !

महावीर स्वामी का जीव विश्वभूति मुनि महावैरागी, महात्यागी और महातपस्वी होने के बावजुद पैतृक भाई के हास्यास्पद वचन सुनकर मन कलुषित हुआ, अभिभान कषाय के परवश हो गया और सत्त्व गँवाया, तो पतन कहाँ तक हुआ? मात्र गाय को उछालकर नहीं रुके; गाय को अपने हाथों में पुन: पकडा, कुशलता से जमीन पर रखा और वहीं पर स्वबल का नियाणा तय किया।

मन कलुषित होते ही सत्त्वनाश : विश्वभूति का नियाणा :

विश्वभूति मुनि का मन अपमान होने पर कलुषित हुआ और यह नियाणा बाँधा कि, 'इस तप-संयम के प्रभाव से मैं परभव में अमाप बल का मालिक बनूँ।'

उस समय यह विचार भी नहीं हुआ कि, 'यह तप-संयम की साधना मैंने मोक्षप्राप्ति हेतु की है, तो क्यों निदान करूँ?' नहीं, पैतृक भाई द्वारा किये गये अपमान के विचारों ने मन को कलुषित कर दिया, मन में अशांति फैल गई। 'मोक्ष नहीं, अब तो यदि तप-संयम से कुछ मिलता है, तो जो मैं चाहता हूँ वही मिले।' इस प्रकार के संकल्प से बलवान त्रिपृष्ठ वासुदेव बने, अमाप बल मिला, परंतु वहाँ से मरकर सीधे सातवीं नरक में गये !

सोचों, अपमान से मन अशांत बनने का कैसा भयावह परिणाम? मन कलुषित होने पर ही तो निर्दोष गाय को हवा में उछाला और मन में अशांति होने पर ही मोक्ष का लक्ष्य भी छोडकर दुन्यवी बल की कामना कर दी ! जिसके द्वारा वह बल मिला कि जो उन्हें बलवान त्रिपृष्ठ वासुदेव बनाकर सातवीं नरक में भेज देता है ! यह सब बातें गहन स्वरूप से चिंतन करने योग्य है। **दुन्यवी बातों पर मन के अशांत होते ही कितने ही पाप पैदा होते है !**

सर्वप्रथम यह सोचों कि मन कैसी बातों पर अशांत हो जाता है?

- संपत्ति गँवाने पर मन अशांत हो जाता है।
- अरे ! सामान्य हाथरुमाल भी कहीं गिर जाये, तो मन अशांत बन जाता है। मन में यही विचार आते है कि, 'अरे ! मेरा रुमाल कहीं गिर गया!'
- कोई कडवा सत्य कह दे कि, 'होश नहीं है क्या, किस प्रकार चलते हो?' वहीं सत्य बात होने पर भी मन अशांत होता है।
- दाल में नमक कुछ कम हो या चाय में शक्कर कम हो, तब 'अरे ! यह कैसी दाल बनाई है ! कैसी चाय बनाई है !' इन बातों से मन अशांत हो जाता है।
- थोडा-सा सम्मान कम मिला, किसी के घर गये और यजमान से 'पधारीये' इतना भी आवकार न मीला, तब तुरंत मन अशांत हो जाता है : 'मैं कितने उत्साह से यहाँ आया और इसे देखो : 'आओ, पधारो' यह बोलने तक का विवेक नहीं है।' इतनी-सी बात में भी यदि मन अशांत हो जाता है, तो सोचों यदि सामनेवाला इतना पूछ ले कि, 'क्यों पधारे हो?' तो समझों मन में कैसी अशांति पैदा होगी। वह यही सोचेगा कि, 'अरे ! मैं भाईचारे से इसे मिलने आया और यह देखो मेरा अपमान कर रहा है।'

मन इस प्रकार सत्त्वहीन है कि वह अत्यंत मामूली और तुच्छ बातों में भी अशांत हो जाता है।

प्रश्न : पर कोई बात बिगडती है, तो मन अशांत तो होगा ही ना?

उत्तर : नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है। आपके आसपास अनेक लोगों का कुछ ना कुछ बिगडता ही है, पर क्या उन सब के लिए आपका मन अशांत रहता है? क्या आप सुखी-संपन्न जैन यह नहीं जानते कि आपके ही आसपास, गाँव-नगर में अनेक साधर्मिक परेशान है? आज की महँगाई में जीवन-निर्वाह में कितनी परेशानीयों का सामना करना पडता है? फिर भी वह साधर्मिक सुखी हो, उसके लिए कोई चिंता है? चिंता होती तो मन को यह होता ना कि,

'अरे ! इन साधर्मिक को इतनी तकलीफें है तो, मेरी धनशक्ति उनकी

सेवा में लगाऊँ। मुझे धन तो धर्म ने ही दिया है, तो उसी उपकारी धर्म की सेवा में धर्म के द्वारा ही प्राप्त हुए धन से थोडा-सा धन भी सत्कार्य में ना लगाऊँ, तो धर्मद्रोही बनूँगा ! साधर्मिक की सेवा तो धर्म है। इसमें धन का व्यय करना जरुरी है, यह मेरा कर्तव्य है। यदि यह सत्कार्य ना किया, तो कर्तव्यभ्रष्ट बनूँगा।'

क्या श्रीमंतो का मन साधर्मिकों के लिये इस प्रकार विचार करता है? अत: यह नियम तो साबित होता ही नहीं कि कुछ बिगडने पर मन अशांत होता ही है। तो अब पूछो,

प्रश्न : हमारा स्वयं का कुछ बिगड रहा हो, तब तो मन अशांत होगा ही ना?

उत्तर : नहीं, स्वजीवन में भी यह नियम लागु नहीं होता। प्राणप्रिय पत्नी या पुत्र के हाथों घी का पात्र छूट जाता है, तब भी मन अशांत तो नहीं होता। उल्टा उन्हें आश्वासन दिया जाता है कि, 'गभराना मत, कोई चिंता मत करो। मेरे हाथों भी कई बार ऐसा हुआ है, तुम्हारे हाथों भी गिर गया, तो कोई बडी बात नहीं है।' इस प्रकार बोलनेवाले का मन अशांत हुआ क्या? नहीं हुआ ना? अब फिर से कहो,

प्रश्न : यहाँ तो घी आदि वस्तु से ज्यादा पत्नी-पुत्र के प्रति प्रेम है, अत्यंत ममत्व है। उनके द्वारा हो रही भूल को अकिंचित्कर गिना जाता है; उन्होंने घी का नुकसान किया है, उसे नुकसान नहीं गिना जाता; तो मन अशांत क्यों बनेगा?

उत्तर : तो कहने का तात्पर्य तो यही हुआ ना कि कोई चीज-वस्तु का नुकसान हो, इतनी-सी बात से मन अशांत हो; यह नियम नहीं है। यदि कोई अत्यधिक पसंद वस्तु पास हो, तो वह तुच्छ वस्तु के नुकसान होने पर उसके लिये मन अशांत नहीं किया जाता।

सीताजी को रामचंद्रजी पर अत्यंत प्रेम-श्रद्धा-भक्ति-बहुमान थे, तभी रामचंद्रजी ने भरत को राजसिंहासन सोंपने हेतु वनवास का स्वीकार किया। इस प्रकार संसारी राजवी सुखों का नुकसान होने के बावजुद सीताजी ने उसे नुकसान के स्वरूप में अनदेखा ही किया और मन को अशांत नहीं होने दिया।

उन्होंने तो यही सोचा था कि, 'मेरा विवाह राजमहल, आभूषण, उत्तम भोजन या नौकरों की सेवा से नहीं, बल्कि राम से हुआ है। जिनके साथ मेरा विवाह हुआ है, उनके पक्ष में कोई नुकसान ही नहीं है, तो मन को क्यों अशांत बनाऊँ? मेरे पति शत-प्रतिशत शुद्ध सुवर्ण समान है, तो अन्य कोई नुकसान हो उससे मैं क्यों मन अशांत करूँ?'

इस तरह राम के प्रति अथाग श्रद्धा-भक्ति-बहुमान की वजह से सुखों से भरा जीवन त्याग करने के बावजुद सीताजी का मन अशांत नहीं हुआ। यही बात हमें भी हमारे जीवन में सोचनी है कि,

मन अशांत ना हो इसकी चाबी :

यदि हमें देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा के प्रति अत्यंत प्रेम हो, ऐसा ही प्रेम गुरु और जिनशासन के प्रति हो और नवकार मंत्र व दया-दान-जिनभक्ति आदि धर्म पर अथाग प्रेम हो, तो दुन्यवी कुछ भी नुकसान होने पर भी मन अशांत नहीं होगा।

मन अशांत न हो, इसकी यह चाबी है।

मन में विचार होने चाहिये कि, 'अहो ! मेरे जैसे गुणहीन को विश्वश्रेष्ठ, विश्ववंद्य, विश्वहितकर वीतराग परमात्मा की प्राप्ति हो गई? ऐसी मूल्यवान वस्तु इस नालायक को मिली? पर मुझे प्राप्ति हुई है, मेरे भाग्य की कोई अवधि नहीं है।'

'गुरु भी अथाग उपकार करनेवाले मिले ! जिन्होंने मुझे भवभ्रमण बढानेवाले पापों से मुक्त करनेवाला धर्म बताया, कितना बडा उपकार ! और धर्मशासन का भी कितना बडा उपकार !'

'वैसे ही मेरे पास देवदर्शन-पूजा-नवकारमंत्र जाप, दया-दान-शील-व्रत-तप आदि साधना है, जो तमाम अत्यंत हितकारी है !'

'यह देव-गुरु-शासन और धर्मसाधना-सद्गुण मेरे पास है, यह सब तो महानिधान है; तो उन सब के सन्मुख तुच्छ सांसारिक कोई वस्तु, कोई मानपान या मालसामान, सुख सुविधा जो नाशवंत है, उनके लिये क्यों मेरा

मन अशांत करूँ? करोडों की संपत्ति जिसके पास है, उसको काच के चार टुकडे टूटने पर कोई फर्क पडता है क्या? क्या उसका मन अशांत होता है कि मेरे काच के टुकडे टूट गये?'

ऋषभदेव परमात्मा पूर्व के तीसरे भव में चक्रवर्ती थे और छः खंड की ठकुराई को एक तिनके की भाँति ठुकराकर संयम-चारित्र ग्रहण किया। तो संयम को अति मूल्यवान समझकर ही ग्रहण किया होगा ना? अब संयम जीवन में कोई भी परीषह हो, प्रतिकूलता हो और मन को अरति पैदा होने का, अशांत होने का प्रसंग बने, तब यह सोचते थे कि,

'मेरे पास अमूल्य संयम है, फिर बाहरी कोई नुकसान हो, तो मुझे उससे क्या? मैं क्यों अरति करूँ और मन को अशांत करूँ?'

तात्पर्य, अतिप्रिय संयम को सर पर रखकर प्रतिकूलताओं में लेशमात्र अरति का भाव नहीं करते थे।

इस प्रकार मन को अरति-असमाधि भाव से दूर रखते हुए की हुई उत्तम साधनाओं के बल पर उन्होंने तीर्थंकर अवस्था का पुण्य उपार्जन किया !

किंमत किसकी? तीर्थंकर अवस्था के पुण्य की? या बाहर का कोई नुकसान हो उसकी? यदि उस पुण्य की किंमत है, तो बाहरी नुकसान का कोई महत्त्व ही नहीं हो सकता। तो फिर उस नुकसान पर मन भी क्यों अशांत बने? क्यों मन को व्यथित करना?

यह अत्यंत गहन और चिंतन करने योग्य बात है कि हम कोई धर्मसाधना करते है, किन्तु छोटी-छोटी बातों में भी अरति-उद्वेग करते है, मन को अशांत कर देते है, तो यह भयंकर खामी है, कर्मसत्ता का भयावह गुनाह है।

पूछो, बात-बात में अरति-उद्वेग होता है, मन अशांत हो जाता है, यह भयावह गुनाह क्यों?

'अरति भयंकर' का प्रथम कारण :

अनेक कारण है; प्रथम यही कि मामूली-सी बातों में भी उद्वेग किया और

उन बातों को इतना महत्त्व दिया कि उसके सन्मुख अरिहंतदेव, नवकारमंत्र या दया-दानादि धर्म को भी मूल्यवान नहीं समझा कि जिनके द्वारा मजबूत आश्वासन प्राप्त होता है कि, 'मेरे पास यह जो साधना है, वही तीन भुवन का राज्य है, तो मन में अरिहंत स्मरण, नवकारजाप या दयादिधर्म-अनुमोदना ही क्यों ना करूँ? क्यों इस साधना का त्याग करके बाह्य तुच्छता की लपेट में आ कर मन को अशांत बनाऊँ?'

उद्वेग से मुक्त होने की कला :

यदि हम उसे ही मूल्यवान समझते है और यदि उसके प्रति ही प्रेम-बहुमान है, तो बाहरी कोई नुकसान होने पर, कुछ प्रतिकूल घटीत होने पर, हमें मन अशांत बनने का और अरति-उद्वेग पैदा होने का भय लगता है; अत: उद्वेग पैदा ना हो, इसलिए नवकार-जाप आदि को महामूल्यवान समझकर वह साधना ही शुरु कर देनी चाहिये।

स्वयं को जानना जरुरी है। अनादि-अनंतकाल से बाह्य में प्रवृत्त रहनेवाले हम बाह्य का ही महव समझकर नाजुक मन के बने है। तभी तो छोटी-सी बातो में भी, अल्प बाह्य नुकसान होने पर भी या थोडी-सी प्रतिकूलता होने पर भी हमारा मन अशांत बन जाता है, अरति-उद्वेग उत्पन्न होता है। तब नवकार महामंत्र, जो अंतकाल में भी स्मरण करने मात्र से स्वर्गगति दिलाता है ऐसा महामूल्यवंत महामंत्र को भी क्षणभर के लिये निरर्थक बना देते है और मन में नवकार मंत्र का आलंबन ग्रहण ना करते हुए अरति को ही प्रवेश देते है।

तो यह अरति कैसी भयावह है जो महामूल्यवान नवकार को भी क्षणभर निरर्थक बना देती है।

'अरति भयंकर' का दूसरा कारण :

अरति से बार-बार मन अशांत बनता है और फलत: मृतप्राय: बन जाता है। जो मन मोक्षसाधना हेतु सर्वश्रेष्ठ साधन है, वही मन मृतप्राय: बन जाता है; यह तो कैसा भारी नुकसान? इस नुकसान की जनक अरति भी कैसी भयावह?

जो मानवमन सत्त्व जुटाकर दुन्यवी विषयों की असर से मुक्त बनकर साधना में लीन बन सकता है, विचार करें तो भी मात्र साधना के करें इस प्रकार बन सकता है, उसी मन को मृतप्राय: बना दिया जाये, तब कैसा भारी नुकसान सहन करना पडेगा?

मन मृतप्राय: क्यों बनता है? सत्त्व का नाश होता है, इसलिए।

सत्त्व का नाश क्यों होता है? संसार की बातें मन पर असर कर जाती है, इसलिए ।

पैतृक भाई ने मजाक बनाया और विश्वभूति ने मन पर विपरीत असर ग्रहण कर ली, अपमान सहन ना होने से मन अशांत हुआ और सत्त्व गँवाया, मन मृतप्राय: बन गया। मोक्ष हेतु विशिष्ट क्षमा-समता-करुणा की साधना से भ्रष्ट हो गये, अरे ! मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य भी गँवाया।

मन अशांत बनने से और अरति-व्याकुलता के वश होने से कितना बडा नुकसान झेलना पडा? मोक्ष का लक्ष्य भूला दे; क्या यह कम नुकसान है? छोटी-सी बात की अरति यह कार्य करवा देती है, वह अरति कैसी भयावह होगी?

अत्यंत विचारशील बात है। बात-बात में मन कैसा बिगड जाता है? और इस तरह मृतप्राय: बना हुआ मन कैसे अनर्थ कार्य कर देता है और यह उत्तम भव किस तरह व्यर्थ बरबाद हो जाता है, इस बात की कोई चिंता ही नहीं है? मन की इस मृतप्राय: स्थिति की परख करों कि वह मृतप्राय: मन कैसी छोटी बातों में भी विक्षिप्त हो जाता है, अरति-व्याकुलता में गिर पडता है और तत्पश्चात् अवसर प्राप्त होने पर किस प्रकार आर्त-रौद्रध्यान के विचार, मिथ्यात्व के विचार और कषाय के विचार शुरु हो जाते है !

वसुभूति राजा सत्यवादी के रूप में प्रसिद्ध थे। गुरुमाता ने उसको झूठी साक्षी भरने को कहा : 'मेरे पुत्र पर्वत और परदेशी नारद ब्राह्मण के मध्य विवाद हुआ है। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेदवचन का अर्थ पर्वत कहता है कि, 'अज अर्थात् बकरी, उससे यज्ञ करना चाहिये' जबकि नारद कहते है कि, 'अज अर्थात् पुरानी डांगर, उससे यज्ञ करना चाहिये'। दोनों अपने अर्थ गुरुजी

ने ही बताये है इस प्रकार बोल रहे है। तुं भी गुरुजी के पास पढा है, अत: अंत में यह तय हुआ कि, 'वसुराजा गुरुजी का जो अर्थ बतायेंगे, वही सत्य माना जायेगा और गलत अर्थ बोलनेवाले की जुबान काट ली जायेगी।' अत: तुझे साक्षी भरनी पडेगी।'

वसुराजा कहते है : 'गुरुजी ने तो 'पुरानी डांगर से यज्ञ करना' यही अर्थ सिखाया है, अत: मैं सत्य अर्थ ही बताऊँगा।'

गुरुमाता कहते है : 'तो क्या मेरे पुत्र की जुबान कटवानी है? मैं तुम्हारे पास पुत्ररक्षा की भीख माँगती हूँ। मैं तुम्हारे गुरुजी की पत्नी तुम्हारी माता समान हूँ। माता को यह दक्षिणा देनी ही पडेगी।'

माता स्वयं भी वास्तविक अर्थ जानते है, किन्तु पुत्र के मोह में वसुराजा को गलत अर्थ में साक्षी भरने का दबाव करती है। पुत्रमोह में मन मृतप्राय: बन गया। 'हाय ! मेरे पुत्र की जुबान काट दी जायेगी?' इस अरति-उद्वेग के विचार शुरु हो गये, जिसके कारण सत्यवादी राजा से भी झूठ बोलने का दबाव करती है।

अब वसुराजा भी गुरुमाता के गलत दाक्षिण्य में बहक गया और मन का सत्त्व बचा न सका। 'अरे ! गुरुमाता भीख माँग रहे है, तो उन्हें कैसे ना कहूँ? भले ही मुझे झूठी साक्षी भरनी पडे!' मन से यह विचार किया। यह कैसा मन? मृतप्राय: मन!

बात यही है कि गुरुमाता को राजी करे या नाराज? 'पर उन्हें नाराज कैसे करुँ?' इतनी सी बात में वसुराजा का मन मृतप्राय: बन गया और झूठी साक्षी देते हुए बोले कि, 'गुरुजी ने 'अज' का अर्थ 'बकरा' ही कहा था।'

यह बोलते ही, क्षेत्रदेवता ने उसे ऊँचे सिंहासन से पीठ पर लात मारकर गिरा दिया। नीचे गिरते ही वसुराजा लहु का वमन करते हुए नरक में गये।

सोचों, 'गुरुमाता को नाराज कैसे करूँ?' इस छोटी सी सोच ने भी मन को ऐसा मृतप्राय: बना दिया कि वसुराजा भी झूठ बोलने के विचार को मजबूत बनाकर असत्यभाषण कर बैठे ! नरक में गये ! इसलिए रौद्रध्यान में मृत्यु

हुई होगी। अरति मन को इस प्रकार मृतप्राय: बना देती है, कैसी भयानक है यह अरति !

अरति रौद्रध्यान तक पहुँचा दे; यह सर्वाधिक नुकसान :

यह ना सोचें कि, 'वसुराजा को देवताने सजा की थी, पर आज के काल में देवता नहीं आते, तो हमें असत्य की ऐसी सजा नहीं मिलेगी।' भले ही देवता ना आते हो, अत: यहाँ तात्कालिक मौत की सजा ना मिले; परंतु असत्यभाषण के निर्धार में रौद्रध्यान शुरु हो जाता है, उसका क्या? उस समय नरकगति के पापों का बंध शुरु हो जायेगा।

संपत्ति के लोभ में या किसी को प्रसन्न करने के लोभ में मन मृतप्राय: बनाने के बाद कहाँ तक भटकना पडेगा? अनंत दु:ख प्रदायक नरक के अशाताकर्म बंधन तक ना?

सिंहगुफावासी मुनि सिंह की गुफा के बाहर चार माह तक उपवास करके ध्यानमग्न होने के मनोबलधारी थे, किन्तु स्थूलभद्रजी की कुछ प्रशंसा क्या सुन ली, तुरंत अरति के गुलाम हो कर सोचने लगे : 'क्या हमारी साधना की कोई किंमत नहीं? और यह स्थूलभद्रजी चार माह भोजन करके वैश्या के गृह रहनेवाले बडे साधक कैसे हो गये?'

एक तरफ ध्यानसाधना का दृढ मनोबल होने के बावजुद परप्रशंसा सुनते ही मन मृतप्राय: बन गया और उसी मन के आधार पर अब अपराधों का सिलसिला कैसे शुरु हो जाता है, वह देखों।

मूढ बननेवाला जीव यह भी नहीं सोच सकता कि, 'अरे ! चार महीने तक उपवास करके सिंह की गुफा के बाहर ध्यान करना बडी बात है या स्वयं से अधिक अन्य की प्रशंसा ना हो यह बडी बात है? प्रशंसा तो सामान्य बात है। महाकल्याण किसके आधार पर होगा? साधना के आधार पर या अन्यों से अधिक प्रशंसा प्राप्त हो उसके आधार पर? किन्तु स्वयं को अल्प और अन्य को विशेष प्रशंसा प्राप्त होने से सिंहगुफावासी मुनि को अरति पैदा हुई और मन मृतप्राय: बन गया। परिणाम स्वरूप अब कैसे दुष्कृत्यों की परंपरा शुरु हो जाती है वह देखों।

सिंहगुफावासी मुनि की अरति से कितने दुष्कृत्य? :

(१) महामुनि स्थूलभद्रस्वामी पर इर्ष्या हुई।

(२) चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली गुरु श्री संभूतिविजयस्वामी जब प्रशंसा करते है, तब इन प्रशंसा वचन का और गुरु का अनादर किया और पक्षपात का आरोप लगाया।

(३) स्वसाधना पर अभिमान और स्थूलिभद्रजी की महासाधना पर तिरस्कार भाव किया।

(४) 'मैं भी अवसर आने पर गुरु को बता दूँगा' इस प्रकार महाज्ञानी गुरु के विरुद्ध मन में अभिमान का संकल्प किया।

(५) अगले चातुर्मास में गुरु द्वारा 'भाई ! तुम्हारा काम नहीं है' इस प्रकार निषेध करने के बावजुद वैश्या के गृह चातुर्मास करने चले गये। गुरुआज्ञा का उल्लंघन किया।

(६) वैश्या के गृह जाने के पश्चात् उसके रूप को देखते ही विषयासक्त बनकर वैश्या से विषयसेवन की याचना करने लगे।

(७) वैश्या ने धन माँगा, तो 'मैं धन कहाँ से लाऊँ' यह बोलकर दीनता प्रगट की।

(८) वैश्या से उपाय जानकर चातुर्मास में ही नेपाल देश चले गये और राजा से बहुमूल्यवान रत्नकंबल ग्रहण किया। बारीश में विहार करके अप्काय आदि जीवों की अपार विराधना की और महापरिग्रह पाप का सेवन किया।

(९) मूल्यवान कंबल को बाँस की लकडी में छूपाकर लौट रहे थे, तभी वन में चोरों के द्वारा घिरे जाने पर झूठ बोले कि, 'मेरे पास कुछ नहीं है' मायामृषावाद का सेवन किया।

(१०) चोरों ने जब बाँस खोलकर रत्नकंबल ग्रहण कर लिया, तब वह पुन: प्राप्त करने हेतु चोरों के सन्मुख भीख माँगने लगे।

यह सब बताना क्यों जरुरी है? इसलिए कि परप्रशंसा सुनने की छोटी-सी बात पर अरति पैदा की, तो कैसे-कैसे महाअनर्थों को निमंत्रण दे दिया? मुनि को भी किस प्रकार महापापों का गुलाम बनना पडा?

सोचों, मामूली बात में भी इस प्रकार घोर अनर्थ का सर्जन करनेवाली अरति कैसी भयावह है?

मन कहाँ-कहाँ मृतप्राय: बन जाता है? :

मन मृतप्राय: बनता है, तभी इस प्रकार अरति करता है। परप्रशंसा, परसंपत्ति, पर के सम्मान आदि देखने पर मन बैचेन होता है, तो वह मृतप्राय: बना ही समझो।

- कुछ तकलीफ पैदा होने से मन में अशांति होती है,
- किसी ने जरा-सा कुछ कह दिया, तो मन को दु:ख हो जाता है,
- किसी ने अपमान कर दिया, तो मन क्रोधित हो जाता है,
- मामूली चीज को गँवाने से या बिगड जाने से मन बैचेन हो जाता है,

तो इन तमाम अवसर पर मन मृतप्राय: बनता है। जिस प्रकार अरति में, उसी प्रकार रति में भी मन मृतप्राय: बनता है।

- कुछ धन उपार्जन हुआ,
- स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हुआ,
- अच्छे वस्त्र पहने,
- कहीं उत्तम स्वागत हुआ,
- ऋतु अनुकूल हो गई...

इन तमाम अवसर में यदि आनंदित हो गये, रति की, तो भी मन मृतप्राय: हुआ यही समझो।

सात्त्विक मन इस प्रकार रति-अरति नहीं करता, अगर करता है, तो वह मृतप्राय: है।
मन मृतप्राय: बनने के पश्चात् न जाने कितने पापो में आसक्त बन जायेगा, कोई सीमा नहीं, कोई मर्यादा नहीं।

इसलिए पाप, दुष्कृत्य, दोष–दुर्गुण, दुर्ध्यान और गलत विचारों से बचना है, तो मन को मृतप्राय: बनने से रोकना सिखो। मन मृतप्राय: ना हो, इसलिए,

- **दुन्यवी–सांसारिक विषयों पर रति–अरति ना करें,**
- **अत्यंत आनंदविभोर या दु:खी आत्मा ना बनें,**
- **वीतरागी परमात्मा और उनकी वाणी पर अथाग श्रद्धा बनाये रखें।**

इस जगत के नाशवंत पदार्थ और नाशवंत मान–अपमान के कारण अविनाशी आत्मा क्यों मन के भाव अस्थित करें? क्यों मूल्यवान मन को सत्त्वहीन मृतप्राय: बनाये? मन को मृतप्रायः बनाकर क्यों अमाप पापों को निमंत्रण दे?

यहाँ हम चर्चा कर रहे है कि निरर्थक घटना में भी अरति, उद्वेग कैसा भयावह परिणाम दिखाती है।

- कोणिक ने सोचा कि, 'हल्ल की पत्नी को देवताई हार और कुंडल है और मेरी रानी को नहीं' बस इतनी–सी बात पर मन में अरति पैदा हो गई और आगे उसने जो कार्य किया, वह तो सर्वविदित ही है।

  हल्ल–विहल्ल को पनाह देनेवाले मातामह चेडा महाराज के साथ बारह वर्ष तक युद्ध किया ! फिर भी वैशाली पर आधिपत्य ना मिला, तो कुलवालक मुनि को वैश्या के द्वारा भ्रष्ट किया ! और उनके ही द्वारा वैशाली का श्री मुनिसुव्रतस्वामी का पवित्र प्रभावक स्तूप को नष्ट करवाया ! वैशाली का सर्वनाश कर दिया ! अरति के कैसे भयावह परिणाम !

- विश्वभूति मुनि धीर–वीर, महावैरागी–महासंयमी और महातपस्वी होने के बावजुद पैतृक भाई के द्वारा हाँसी उडाने पर अरति–उद्वेग पैदा हुआ और सोचने लगे कि, 'अरे ! वह मेरा अपमान कर रहा है?' मन अशांत बनने से इस प्रकार मृतप्राय: और सत्त्वहीन बन गया कि मोक्ष की दृष्टि को भी छोडकर स्वयं के श्रेष्ठ तप–संयम के तुच्छ फलस्वरूप अखूट बलप्राप्ति की आशंसा की, नियाणा किया ! तप–संयम से पुण्य का उपार्जन तो किया ही था, किन्तु अब स्वयं ही पापानुबंधी भाव की मुहर लगा दी।

पौद्गलिक वस्तु की तीव्र आशंसा करने से धर्म द्वारा प्रदत्त पुण्य पर पापानुबंधी की मुहर लग जाती है।

पापानुबंधी पुण्य का अर्थ :

जब वह पुण्य का उदय होगा, तब सुख-सुविधा तो प्राप्त होगी ही, किन्तु साथ में जिस मोहबुद्धि से आशंसा-नियाणा किया था, वह मोहबुद्धि भी जागृत रहेगी; और मोहबुद्धि की जागृति होने पर सद्बुद्धि का उपयोग नहीं होगा, दुर्बुद्धि ही पैदा होगी। दुर्बुद्धि की वजह से काम-क्रोध-लोभ-मद-माया-दंभ आदि जालिम कषाय जागृत होंगे, जिनके वश हो कर जीव प्रचुर मात्रा में पाप करेगा।

विषयसेवन करेगा,
लक्ष्मी की लालसा प्रचंड रहेगी,
बल और सत्ता का अभिमान खूब रहेगा,
आरंभ-समारंभ-जीवहिंसा-झूठ-अनीति आदि पाप भी प्रचुर मात्रा में होते रहेंगे।

विश्वभूति मुनि ने तप-संयम से जो पुण्य उपार्जित किया था, उसके प्रभाव से कालधर्म के पश्चात् सातवें देवलोक में देव बने और वहाँ से पाप-नियाणा के प्रभाव से अखूट बलवाले महासमृद्ध त्रिपृष्ठ वासुदेव बने। किन्तु पुण्य पापानुबंधी बनकर प्राप्त हुआ है, अतः पापानुबंधी के फलस्वरूप प्रचंड मोहबुद्धि का उदय हुआ और विषयसेवन में आसक्ति, सत्ताभिमान, किसी के अल्प गुनाह पर भी भयावह सजा करने की क्रूरता आदि कषायग्रस्त जीवन प्राप्त हुआ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव के कुछ जीवनप्रसंग :

त्रिपृष्ठ के पिता प्रजापति राजा थे। त्रिपृष्ठ वासुदेव नहीं बने थे और कुमारावस्था में थे, तभी पिता की राज्यसभा में अन्य बडे राजा प्रतिवासुदेव की तरफ से उनका दूत आ कर संदेश कहता है कि,

'किसी नगर के बाहर सरहद के पास चातुर्मास में कभी-कभी सिंह आ जाता है, जिसके कारण किसान भयभीत होते है। तमाम राजा बारी-बारी से वहाँ रक्षा करते है। अब आपका दौर है, तो इस बार आप वहाँ रक्षा करें।'

सभा में त्रिपृष्ठ भी बैठा है। अपने ही पिता को आदेश देनेवाले राजा पर वह क्रोधित होता है और दूत का अपमान कर देता है।

तभी, 'दूत प्रतिवासुदेव राजा को अपमान की बात कहेगा, तो वह राजा बिना वजह परेशानी पैदा कर देगा' यह सोचकर प्रजापति राजा त्रिपृष्ठ कुमार को चूप करते हुए दूत को उसकी बात पर ध्यान न देने को कहते है और प्रतिवासुदेव का आदेश स्वीकार लेते है।

किन्तु पूर्वभव से ही अभिमान मजबूत करके आनेवाले त्रिपृष्ठ कुमार को मन में शांति नहीं होती। दूत के वहाँ से जाने के पश्चात् कुमार भी उसके पीछे जा कर उसे पुनः धमकी दे कर आ जाता है।

एक भव में किसी कषाय के बीज बोने के पश्चात् अब वह बीज आनेवाले अनेक भव तक खीलता ही रहेगा।

प्रजापति राजा सैन्य के साथ सिंह से रक्षा करने हेतु जाने की तैयारी करते है, तभी पुत्र त्रिपृष्ठ कहता है कि, 'आप यहीं रुक जाओ और सैन्य को भी साथ में ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं। हम दो भाई ही यह कार्य पूर्ण कर लेंगे।'

त्रिपृष्ठ अपने भाई के साथ रथ में बैठकर निकल गया और नगर की सरहद पर पहुँचकर किसानों से पूछता है : 'सिंह के आने का वक्त क्या है?'

किसान कहते है कि : 'हे कुमार ! सिंह कब आता है; यह तो कहना मुश्किल है। वह तो कभी भी आ सकता है।'

'तो यहाँ कब तक बैठे रहेंगे? चलो, यह बताओं कि वह सिंह किस दिशा से आता है?'

किसानों ने पर्वत की दिशा बताई। त्रिपृष्ठ ने पहाड की तरफ रथ चलाया और वहाँ जा कर सिंहनाद किया। क्यों? सिंह को बाहर आने का आमंत्रण देने के लिये ही।

सामान्यतः मानवी सिंह तो क्या, वह जहाँ है उस दिशा में भी जाने से डरता है और त्रिपृष्ठ तो स्वयं सिंह को ही बाहर आने का आमंत्रण दे रहा है। कैसा भारी बल होगा? अखाडे में खैलकर या औषधि-रसायन जैसे शक्तिप्रद चीजें खा कर यह बल प्राप्त नहीं किया, तप-संयम से प्राप्त किया है।

श्रद्धा होनी चाहिये कि,

बल भी उत्तम भोजन से नहीं, बल्कि तप-संयम से प्राप्त होता है।

आज के दूषित समय ने मन को मूर्छित बना दिया है, तभी तो तप और संयम के प्रति मन आकर्षित नहीं होता।

बाघ को ज्यादा शिकार मिलने पर उसकी भूख ओर बढ जाती है, वैसे आज के युग में विषयविलास के ज्यादा साधन मिलने पर जीव की विषयभूख भी अधिक बढती जा रही है। संयम तो स्वप्न में भी नहीं दिखता।

संयमरहित मानवों के मन अत्यंत क्षुद्र, तामसी और सत्त्वहीन बन जाते है।

कोई बडा सेठ होगा, फिर भी नौकर या पुत्र से हो रहे अल्प नुकसान पर भी तुच्छ वचन से उसका अपमान करेगा, क्रोधित हो जायेगा और भारी रौफ जमायेगा ! मानो कि जैसे चींटी पर चढाई करने के लिए पूरी सेना ले के चलेगा।

जीवन में संयम नहीं है, अत:

- अल्प नुकसान को नजरअंदाज करने की उदारता कैसे प्राप्त होगी?
- अपने से छोटे जीवों को वात्सल्य देकर जीतने का दिल ही कैसे होगा?
- चित्त में सौम्यता का प्रकाश कहाँ से होगा?
- संयम के बिना उदारता-वात्सल्य-सौम्यता का बल कैसे मिलेगा?

तप के बिना क्षुद्रता-तामसी स्वभाव आदि निर्बलता नहीं जायेगी :

तप का अभ्यास किये बिना भोजन आदि के लिये भी हृदय क्षुद्र-तामसी-सत्त्वहीन बन जाता है। भोजन में थोडी-सी भी गलती होने पर जीव का मन, जीव का चेहरा, जीव के वचन कटु बन जाते है। क्यों? तप से बल प्राप्त नहीं किया, जिससे उदार-उमदा-सात्त्विक बने रहना संभव हो।

तप और संयम से वह आत्मीय बल प्राप्त होता है, जो तमाम अवसर में हृदय को उमदा, उदार और सत्त्वशील बना सके।

त्रिपृष्ठ ने पूर्वभव में अथाग तप-संयम से अथाग बल प्राप्त किया था, तभी उस बल के आधार से सिंह को बाहर निकालने हेतु सिंहनाद करता है। सिंह को बुलाकर भी क्या करना है? उसे खत्म करना है। यह बल का सदुपयोग नहीं है, किन्तु पापानुबंधी पुण्य के फल में पापलेश्या जागृत होती है।

पुण्य के फल से पापलेश्या जागृत हो, वह पुण्य पापानुबंधी।
पुण्य पापानुबंधी अर्थात् पुण्य बेचकर पाप को खरीदने का कार्य।

पापानुबंधी के दो प्रकार :

(१) यह मत भूलें कि जीवन में सुख-सुविधा मात्र पुण्य से ही प्राप्त होती है। पुण्य रूप संपत्ति देने से ही धन आदि सुखसुविधा मिल सकती है; किन्तु किस प्रकार यह सुख प्राप्त किये है? असत्य-अनीति-विश्वासघात-घोर जीवहिंसा आदि भरपूर व्यापार से? तो वह पुण्य पापानुबंधी है। पुण्य तो बेचते गये, किन्तु दुष्कृत्य के आचरण से पाप खरीदते गये, यह पापानुबंधी का एक प्रकार है।

(२) पापानुबंधी का दूसरा प्रकार यह है कि, शायद न्यायनीति से व्यापार करके धन उपार्जित किया, परंतु अब उस धन-संपत्ति पर लेश्या कैसी रहती है? अभिमान की, व्यापारवृद्धि के लोभ की, विषयसेवन की, महारंभ-समारंभ की... आदि लेश्या या संग्रह करके धन पर भारी ममत्व करने की लेश्या रहती है, तो यह भी पुण्य पापानुबंधी है। इस प्रकार

(१) पुण्य का उदय करने हेतु भयावह पाप लेश्या और जैन को शोभास्पद ना हो ऐसा पापकार्य जारी हो वह पुण्य पापानुबंधी,

(२) पुण्य का उदय होने के पश्चात् उसके फलस्वरूप पापलेश्या बढती ही रहे, तो वह भी पुण्य पापानुबंधी गिना जाता है। अब प्रश्न होगा कि,

पापानुबंधी को परिवर्तित करना :

प्रश्न : वह पुण्य तो पहले से ही पापानुबंधी बनकर ही आता है, अर्थात् यहाँ धन उपार्जन में या धन का सुख प्राप्त करते वक्त पापबुद्धि ही पैदा करता है, तो उसको कैसे रोका जायें? क्या कोई मार्ग है?

उत्तर : आपको यदि पापलेश्या या पापकार्यों का त्याग ना करना हो, तो आपका सवाल मात्र एक बहाना ही है। हमें समझना है कि हमें पापबुद्धि पैदा होती है, इतने से यही नहीं मानना है कि हमारे पुण्य में निकाचित पापानुबंध ही है।

यदि ऐसा होता तो कोई भी जीव धर्म की प्राप्ति ही ना कर पाता। क्योंकि कोई भी जीव नया धर्म प्राप्त करने से पूर्व पापबुद्धिवाला ही होता है, पापासक्त ही होता है। यदि यह क्रिया पूर्वकृत निकाचित पापानुबंध की वजह से है, तो यहाँ भी वह पापबुद्धि का समापन होता ही नहीं और धर्मप्राप्ति भी ना होती, परंतु अनंत जीवों की पापबुद्धि खत्म हुई है और वह आत्मा धर्मप्राप्ति करके मोक्ष तक गये है, यही बात साबित करती है कि,

ऐसे अनिकाचित पापानुबंध भी होते है, जो योग्य निमित्त और पुरुषार्थ से खत्म हो सकते है।

(१) निमित्त पापबुद्धि को तोड सकता है :

- दुनियादारी में पापबुद्धि जागृत थी, किन्तु कभी कोई व्यक्ति तीर्थधाम में ले जाता है, तब वह निमित्त प्राप्त होने से पापबुद्धि की हानि हो जाती है।
- गौतम इन्द्रभूति ब्राह्मण को मन में परमात्मा के सन्मुख अभिमान था वह पापबुद्धि थी, किन्तु परमात्मा का समवसरण दीखा, प्रभु के श्रीमुख से स्वयं का नाम और हृदय के संशय का समाधान प्राप्त हुआ, यह तमाम निमित्त प्राप्त होते ही अभिमान की पापबुद्धि नष्ट हो गई।
- आप स्वयं के भीतर ही देखों कि प्रवचन में आने के पूर्व आपके मन में अनेक पापकारी विचार चलते रहते है, किन्तु प्रवचनश्रवण का निमित्त प्राप्त होते ही पापबुद्धि नष्ट हो जाती है ना? उस पर तिरस्कार होता है ना?

मुनिचर्या के दर्शन से पापबुद्धि–नाश का दृष्टांत :

एक दुश्मन की तरफ से कुछ लोग एक महात्मा को मारने हेतु गये। चांदनी की रात में निद्राधीन महात्मा के समीप पहुँचे, तब तक उनके मन में कौन–

सी लेश्या थी? 'इन महात्मा को मार डालना है' यही ना? कैसी भयावह पापलेश्या !

किन्तु महात्मा को देखते है कि वह नींद में करवट बदल रहे थे, तब प्रथम रजोहरण के द्वारा स्वशरीर और करवट बदलने के स्थान को पूँजते है, क्या पता शरीर पर या स्थान पर कोई छोटा जीव हो और मर जाये तो? इस प्रकार मुनिवर पूँजकर करवट बदलते है।

मारनेवालों को सद्‌बुद्धि :

इस प्रकार अहिंसापालन देखकर मुनिवर को मारने हेतु आये तमाम लोग आश्चर्यचकित हो कर सोचने लगे कि, 'अरे ! इन महात्मा को नींद में भी कोई जीव ना मर जायें; इस बात की कैसी चिंता है? ऐसे दयावान महात्मा किसी भी जीव के प्रति द्वेषभाव नहीं रख सकते, किसीका गलत नहीं सोच सकते, किसीका कुछ नहीं बिगाडना चाहेंगे, तो फिर जिन्होंने इनको मार देने का आदेश दिया है, उसके लिये भी क्यों गलत सोचेंगे? या उसका कुछ बिगाडना चाहेंगे?'

'यह कार्य देनेवाला व्यक्ति ही मूर्ख है, पर हम क्यों मूर्ख बनें? ऐसे जगतदयालु महात्मा की तो सेवा करनी चाहिये, ना कि उन्हें मारा जाये। यह घोर पाप हमें नहीं करना। ऐसा घोर पाप करके कमाये हुए धन से भी क्या पता क्या लाभ प्राप्त होगा? पर हमें तो निश्चित नरक में ही जाना पडेगा। यहाँ से निकल जाते है, इन महात्मा को नहीं मार सकते।'

क्या हो गया उन लोगों को? पापबुद्धि मुनिचर्यादर्शन का निमित्त मिलते ही नष्ट हो गई। यदि पूर्व के पापानुबंध से पापबुद्धि ही होती है और किसी भी हालत में नष्ट ना हो, तो इस प्रकार सुंदर निमित्त भी क्या कर सकते है? परंतु ऐसे निमित्त पापलेश्या को शांत करती है, नष्ट कर देती है, यह सिद्ध हकीकत है और इसी प्रकार अनंत पापीओं के जीवनपरिवर्तन हो गये। इस बात से साबित होता है कि अनिकाचित पापानुबंध को शांत कर सकते है, रोक सकते है और फलतः पापलेश्या को रोककर धर्मलेश्या की शुरुआत कर सकते है।

(२) पुरुषार्थ पापबुद्धि को तोड सकता है :

जैसे पापानुबंध निमित्त से खत्म हो सकता है, वैसे पुरुषार्थ से भी खत्म हो सकता है। मन में पापविचार चल रहे हो, किन्तु

- लगातार सत्समागम करने पर,
- साधु का उपदेशश्रवण करने पर,
- आध्यात्मिक पुस्तकों के वांचन करने पर,

कम से कम उतने वक्त के लिए पापविचार थम जाते है। अन्य स्थानों पर घुमते रहने के बदले यदि,

- जिनमंदिरों की स्पर्शना,
- पूजन-चैत्यवंदन-स्तवन-गुणगान,
- नवस्मरणादि स्तोत्रपाठ,
- सज्झाय-पदो का पारायण,
- साधुसेवा,
- सामायिक-प्रतिक्रमण-पौषध...

इत्यादि सत् प्रवृत्तिओ में लगे रहने से पापविचार और पापकार्य से बचा जाता है।

इस प्रकार सतत सत्प्रवृत्ति में रक्त रहने से, सद्वांचन-श्रवण में रक्त रहने से, सुंदर शास्त्रस्वाध्याय और अनित्यादि भावनाओं के चिंतन में सतत मग्न रहने से,

इस प्रकार निरंतर प्रवर्तमान सत्पुरुषार्थ के द्वारा पापानुबंध नष्ट ही हो जाते है और पापबुद्धि अपना मार्ग बदल देती है।

मुनि को क्यों ज्यादा से ज्यादा स्वाध्याय करना है :

क्योंकि शास्त्रों ने मुनिजीवन में प्रतिदिन अहोरात्रि के आठ प्रहर से पाँच प्रहर जैसा ज्यादातर समय शास्त्र-स्वाध्याय करने की आज्ञा दी है। क्यों? **स्वाध्याय में मन व्यस्त रहने से मन में कोई व्यर्थ पापी विचार पैदा नहीं होते, पाप के विकल्प पैदा नहीं होते, पापलेश्या जागृत नहीं होती।**

यदि मुनि स्वाध्याय में व्यस्त ना रहे और व्यर्थ की बातें करते रहे तो, गुजराती कहावत 'नवरो बेठो नख्खोद वाले' अर्थात् बेकार इन्सान कोई ना कोई गलत कार्य करता रहता है, उस प्रकार स्वाध्यायरहित मुनि के मन में भी कोई ना कोई व्यर्थ के विचार गतिमान हो जायेंगे; फिर चाहे,

- किसी वस्तु के विचार,
- शारीरिक अनुकूलता-प्रतिकूलता के विचार,
- कषाय के विचार,
- राग-द्वेष के विचार
- अन्य बिलकुल निरर्थक परचिंता के विचार, अरे ! इतना ही नहीं,
- मोह या विषयसुख के विचार तक पैदा हो सकते है।

भटके हुए मुनि का दृष्टांत :

शास्त्रों में एक प्रसंग बताया गया है कि एक मुनि को कामवासना जागृत हुई और मन में मात्र वही विचार गतिमान रहते है। उन्होंने यह बात जिनसे मन मिल चुका है ऐसे मुनि को बताई।

तब दूसरे मुनि कहते है : 'अरे ! यह क्या? साधु अवस्था में ऐसे विचार? यह आपके मोह का उदय है, अत: इसे दबाने हेतु आप कठोर तप और रसत्याग का मार्ग अपनाओं।'

प्रथम मुनि ने यह सुनकर कठोर तप-त्याग मार्ग अपनाया। अनेक दिन बीत जाने के बाद भी उनके मोह का उदय खत्म नहीं हुआ।

तब मित्रमुनि कहते है : 'अब आप आचार्य भगवंत से बात करों। वो ही सही मार्ग बतायेंगे।'

जब आचार्य भगवंत को यह बात बताई गई, तो उन्होंने कहा : 'अरे ! इसमें कौन सी बडी बात है? आपके मोह का उदय तो चुटकीभर में समाप्त हो जायेगा। इसका उपाय जरुर करेंगे, किन्तु प्रथम एक कार्य संपन्न करों। आपने शास्त्रों का अभ्यास किया है और यहाँ मुनि भगवंतो को ज्ञान की जरुरत है, तो आप उन्हें शास्त्रवाचना प्रदान करों।'

आचार्य ने ऐसा क्यों कहा? उन्होंने जाना कि, 'यह साधु शास्त्रज्ञ है, किन्तु उनके स्वाध्याय की क्रिया अल्प हो गई है, तभी तो बेकार बैठे रहने से मन में अनादि के वासनाग्रस्त मोह के भूत अपना घर जमा बैठे है। अत: मुनि को पुन: वाचनादि स्वाध्याय-मार्ग में जोड दिया हो, तो उनका मन इस मार्ग में व्यस्त ही रहेगा, फलत: अन्य कोई विकल्प ही उनके मन में पैदा नहीं होंगे।'

तव और शास्त्र-पदार्थ में व्यस्त मन को यह समय हीं नहीं मिलता कि वह व्यर्थ के कोई विकल्प पैदा कर पाये।

यदि मन में व्यर्थ विषयसुखों के विचार पैदा होते है, तो इसका अर्थ यही है कि मन में तत्त्वचिंतन, शास्त्रपदार्थचिंतन की कमी है। सोचों,

- यदि १०,००० रुपये की गिनती चल रही हो, तब मन में दूसरा कोई विचार आ सकता है? नहीं, क्योंकि मन उस वक्त रुपयों की गिनती में ही व्यस्त है।
- धागे में मोतीओं को भरनेवाले कारीगर से पूछा जाये कि, 'छोटे-छोटे मोतीओं को धागे में बाँधते समय अन्य विचार आते है क्या?' नहीं आयेंगे। चार मोती भरने के बाद कोई विचार, फिर पाँच मोती भरने के बाद पुन: अन्य विचार;... इस प्रकार करने से तो संध्या तक उसका कार्य समाप्त नहीं होगा और कोई आमदनी प्राप्त नहीं कर पायेगा।

मात्र आजीविका के ख्याल से भी उसका ध्यान मोती को भरने में ही लगा रहता है और इस कार्य के दौरान अन्य किसी विचारों को स्थान नहीं देता, तो कर्मक्षय और मोक्षख्याल से शास्त्रपदार्थों के अध्ययन-परावर्तन-चिंतन में मन को एकाग्रता से क्यों नहीं जोड सकते? क्या इस उत्तम साधना में अन्य व्यर्थ विचार भी पैदा हो सकते है? आमदनी के उद्देश से तो कर्मक्षय और मोक्ष का उद्देश कही गुना ज्यादा महवपूर्ण है, तो क्यों उसे विस्मृत किया जाता है? क्यों वह उद्देश हर पल नजरों के सामने नहीं रह सकता?

सबूर ! गलती से भी यह समाधान ना कर देना कि, 'इस काल में मोक्ष तो मिलता ही नहीं, तो कर्मक्षय सतत ना करते रहे और मध्य में अन्य

विचार आने के बावजुद भी पुन: स्वाध्याय में चित्त लग जाने से कर्मक्षय तो होनेवाला ही है, अत: मन में कोई अन्य विचार आ भी गया, तो चिंता की बात नहीं है। हम कौन से महायोगी आत्मा है? जो उनकी तरह दिनभर एकाग्र चित्त रख पायेंगे।'

इस प्रकार मन से ही गलत समाधान करने से बचे। क्योंकि,

व्यर्थ विचारों का नुकसान :

व्यर्थ के विचार मन को दुर्बल बना देते है, सत्त्वहीन बना देते है।

(१) एक बार व्यर्थ विचारों के संस्कार मन में जमा हो जाने पर, पुन: किसी अवसर पर वही संस्कार जागृत होकर व्यर्थ विचारों का स्मरण करवाकर आत्मा को कलुषित करेंगे।

(२) दुर्बल और सत्त्वहीन बना हुआ मन अब स्वाध्याय में दृढता से कार्य नहीं कर पायेगा।

यह दोनों नुकसान भयावह है।

उन व्यर्थ विचारों का स्मरण होने पर लाख रुपये की आवश्यक क्रियाओं में भी वह परेशानी करते रहेंगे। देवाधिदेव के दर्शन की क्रिया भी सही प्रकार से नहीं हो पायेगी। मन में कोई ना कोई फालतु विचार प्रवर्तमान रहेंगे और दर्शन भी नहीं करने देंगे। व्यर्थ विचार और इधरउधर देखते हुए बेध्यान बनने की आदत परमात्मा के महामंगलकारी, महामूल्यवान पवित्र दर्शन की क्रिया के वक्त भी मन और नजरों को भटकाती रहेगी। हजारों दिनों तक ऐसी क्रिया करने से भी फायदा क्या हुआ? जीव दर्शनक्रिया में स्थिर होगा क्या?

व्यर्थ विचार और नजर के भटकने से मन दर्शनक्रिया में, परमात्मा में या परमात्मा के गुणो में स्थिर होगा ही नहीं।

परमात्मा के दर्शन करते वक्त भी यदि मन स्थिर नहीं रहता, तो उसके पश्चात् भी मन स्थिर कैसे रह सकता है? और ऐसे अस्थिर मन से हुई दर्शनक्रिया करने के पश्चात् बाहर आने के बाद भी परमात्मा कैसे याद रहेंगे?

सोचों, तीर्थाधिराज शत्रुंजय पर जाकर श्री आदिनाथजी के दर्शन किये है ना? अब यह बताओं कि, दर्शन करके बाहर निकलते ही आदिनाथजी का स्मरण कितना रहा? गिरिराज उतरते समय स्मरण रहता है? तलहटी में भाती खाते वक्त स्मरण रहता है? धर्मशाला जा रहे हो तब? धर्मशाला में रुके तब? कहाँ है स्मरण? कब है स्मरण? जवाब है : जब दूसरे दिन दादा श्री आदिनाथजी के दर्शन करेंगे तब... ! तो बीच में जो २२-२३ घंटे बीत गये, उस वक्त क्या? साथ में कोई रहता है, तो उसके साथ व्यर्थ की बातें और अकेले रहते है, तो बस इधरउधर देखने का और फालतु के विचार दिमाग में भरने का कार्य ही करते हो ना?

पवित्र तीर्थाधिराज पर महान श्री आदिनाथजी परमात्मा के महामूल्यवान दर्शन प्राप्त करने के बावजुद भी ऐसा हाल क्यों? जवाब है कि,

परमात्मा के दर्शन में और परमात्मा में मन इस प्रकार स्थिर ही नहीं हुआ, जिससे जगत की तमाम बातें, पदार्थ उनके सन्मुख तुच्छ लगे।

- जिसे मनपसंद पत्नी मिली हो,
- मनपसंद धनोपार्जित करवा दे ऐसा व्यापारी या दलाल मिला हो,
- लघुतम वेतन से सीधा वार्षिक उत्तम कमाई प्रदान करके भागीदार बनानेवाला सेठ मिला हो,

इन तमाम घटना में उस जीव का मन अत्यंत स्थिर हो जाता है ना? बार-बार प्रसन्नता से याद करें इस प्रकार स्थिर हो जाता है।

तो परमात्मा में क्यों इस प्रकार चित्त स्थिर नहीं होता? जवाब है कि परमात्मा में चित्त को अस्थिर करनेवाली पत्नी-व्यापारी-धन आदि ढेर सारी बातें अपने मन में भरी पडी है। बेकार मन अपनी खौज शुरु कर देता है और उसको पसंद विषयों में तुरंत बहक जाता है। यही खराब आदत महान देवदर्शन जैसी क्रिया में भी परेशान करती है।

जरुरी है कि मन को खाली ना रखा जाये और इसलिए मन को शास्त्रपदार्थों में ही व्यस्त रखा जायें।

यह तो मन को पसंद विचार और नजरों को भटकाने वाले कुसंस्कार, गलत आदतों के द्वारा हो रहे नुकसान की बात हुई। अब जानेंगे कि, मन उसमें प्रवृत्त होकर नि:सत्त्व बनता है, तब क्या नुकसान होते है।

नि:सत्त्व मन के बडे नुकसान :

मानव पाप कब करता है? पापों का आचरण ना करते हुए सत्पथ पर अटल रहने का सामर्थ्य ना हो, सत्त्व ना हो तब पाप करता है।

अर्थ और काम की लालसा ही ऐसी है कि मानव में सत्त्व ना होने पर वह इस लालसा में आसक्त हो ही जाता है। धन और सुख के विषयो में बहक जाने के बाद तो अमाप पाप करता है, प्रगट स्वरूप से नहीं तो गुप्तता से पाप करता है। इन पापों को रोकने का सत्त्व उसमें नहीं है, तो फिर कैसे बच पायेगा? सत्त्व होने पर ही,

(१) पाप से बचा जा सकता है, और

(२) पाप में प्रवृत्त करनेवाले अर्थ-काम की लालसा तोडी जा सकती है।

श्रेणिक स्वयं को कैसे मानते थे?

प्रश्न : तो क्या तीर्थंकर नामकर्म और क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जन करनेवाले श्रेणिक सत्त्वहीन थे?

उत्तर : श्रेणिक कैसे थे, यह हमें कहने की आवश्यकता नहीं है। श्रेणिक स्वयं क्या कहते थे और क्या मानते थे; वह जानने की आवश्यकता है। अंत समय में पुत्र कोणिक ने कारावास में कैद कर दिया, तब सोचा कि,

'धन्य है मेघकुमार, नंदीषेण, अभयकुमार आदि आत्माओं को, जिन्होंने प्रभु के हाथों चारित्र ग्रहण करके संसार का त्याग किया ! मैं सत्त्वहीन बनकर संसार में डुबा रहा और अब यह दिन देखने पड रहे है। यहाँ दु:ख सहन करने के बावजुद कर्मनिर्जरा बडी मात्रा में नहीं है, क्योंकि दु:ख को पराधीन बनकर सहन कर रहा हूँ। साधुजीवन में दु:खों को स्वेच्छा से सहन करने का मार्ग प्राप्त होता है, जिससे अथाग कर्मनिर्जरा होती है ! परंतु मेरे भाग्य में वह दिन ही कहाँ? सत्त्वहीन को यह सद्भाग्य कैसे प्राप्त होगा?'

श्रेणिक स्वयं को क्या मान रहे है? सत्त्वहीन ! इस तरह उन्होंने क्षायिक सम्यक्त्व और तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन हो ऐसी आराधना का पुरुषार्थ विकसित किया और मिथ्यात्वपोषक लालसाओं के वश में ना रहे; यह भी उनका भारी सत्त्व है। किन्तु गृहत्याग-विषयसुखों का त्याग ना कर सके, अत: यह भी मानना ही पडेगा कि त्याग का सत्त्व, त्याग की हिंमत नहीं थी।

सत्त्वहीनता से पापीष्ठता :

बात यही है कि मन को शास्त्र के पदार्थ और तत्त्वचिंतन में ना लगाया, तो बेकार बना हुआ मन व्यर्थ के विचारों में प्रवृत्त हो जायेगा, जिसके द्वारा मन के सत्त्व का नाश होता रहेगा। इसी सत्त्वनाश या सत्त्वहीनता के जोर पर अन्य अर्थ और काम की लालसा में मन बहक जायेगा। परिणाम स्वरूप जीवन पापीष्ठ, पापों में डूब जायेगा।

मुनि मोह से कैसे बच सकते है? :

आचार्य भगवंत ने जाना कि, 'मोह के उदय से मुनि उत्तम स्वाध्याय के बगैर बेकार मनवाले बन गये है, इसी कारण सत्त्वहीन बने है और वही सत्त्वहीनता के कारण मोह का सामना नहीं कर पा रहे है; अत: मोह के उदय से व्याकुल हो रहे है। मूलत: बेकार मन के कारण ही यह सब हो रहा है। तो उनके मन को कार्यवंत कर देना चाहिये, जिससे अन्य कोई विकल्प के लिए मन बेकार नहीं बनेगा।'

मुनि ने भी आचार्य भगवंत की आज्ञानुसार कार्य शुरु कर दिया। दिनभर और रात्रि के प्रथम व अंतिम प्रहर में अन्य मुनिओं को वाचना प्रदान करने में, जिनको आवश्यकता हो, उन्हें परावर्तन करवाने में और शंका-प्रश्नों का समाधान देने में इस प्रकार व्यस्त हो गये कि अन्य कोई विचार करने का समय ही नहीं मिल रहा था। दिनभर और रात्रि के दो प्रहर की अथाग मेहनत करने पर ऐसी प्रगाढ नींद आने लगी कि तब भी कोई फालतु के विचार ही पैदा नहीं होते। अब मोह का कोई विचार मन में कैसे पैदा होगा?

कुछ दिन बाद आचार्य भगवंत उन्हें पूछते है : 'अब आपके भावों में मोह का स्थान है क्या? कोई परिवर्तन है क्या?'

मुनि कहते है : 'भगवंत ! जब से आपने मुझे वाचना आदि कार्यों में संजोया है, तब से अन्य कोई विचार नहीं हो रहे है। लेशमात्र भी विचार नहीं आ रहे है।'

आचार्य भगवंत कहते है : 'स्वाध्याय से रहित बनने पर आपका मन खाली हो गया था, फलतः व्यर्थ विषयों के विचार जागृत हो गये। अब स्वाध्याय की प्रवृत्ति आजीवन जारी रखना, आपको कोई समस्या नहीं होगी। चौदह पूर्वधर महर्षि भी श्रुतसागर को पार करने के बावजुद उसके चिंतन-मनन में सतत प्रवृत्त रहते है, तो हमारे लिए तो अन्य कोई विकल्प पसंद करना व्यर्थ ही है। हमारे लिए जिनेश्वर भगवान की भी यही आज्ञा है, इसी आज्ञा में मन सदा पवित्र रहता है।'

मुनि गुरु भगवंत के पैरों में गिरकर अश्रु के साथ कहते है : 'प्रभु ! आपने तो मुझ पर महान उपकार किया ! आपने मेरी रक्षा की ! आपने जो कहा, वही सत्य है। इस पवित्र ज्ञान-प्रवृत्ति रहने से मेरा मलिन मन स्वच्छ बना है। आपकी कृपा से अब कोई समस्या नहीं होगी। आपने मुझ जैसे पतित को दुर्गति में जाने से बचा लिया। आपका उपकार असीमित है। गुरु के बिना यह उपकार अन्य कोई नहीं कर सकता।'

शास्त्र-स्वाध्याय, शास्त्रों के श्लोक व पदार्थों का दिनरात पारायण-चिंतन-मनन करने से मन को

- पापी विचार,
- मोह के विकल्प,
- कषाय के चिंतन और
- व्यर्थ के तुच्छ विचारों से बचा जा सकता है।

अतः उन कुविचारों से जीव का जो सत्त्वहनन हो रहा था, वह रुक गया। सत्त्व बरकरार रहे, वृद्धि प्राप्त करता रहे, तो अन्य महान साधना में भी प्रवृत्त बना जा सकता है।

७. भ्रष्टता की हद पार

कामलता की भ्रष्टता में वृद्धि :

कामलता ब्राह्मणी ने राजा की रानी बनकर पहले भी सत्त्व गँवाया था और अब पुन: सत्त्वहीन बनकर वैश्यावृत्ति में आसक्त हो गई। आगे कैसा भयावह अनर्थ होनेवाला है; उसकी पहचान उसे नहीं थी।

वैश्यावृत्ति तो अनर्थ है ही, किन्तु स्वयं के पुत्र के साथ ही वैश्यावृत्ति हो; यह कैसी भ्रष्टता? कैसी भयावह घटना? यह कलंकित घटना कामलता के जीवन में बनने जा रही है।

वास्तव में यह हुआ कि कामलता का मूल पति ब्राह्मण वन के मंदिर में कामलता को अपने साथ ले जाने आया था और सर्पदंश से मर गया था, उसके गृह उसका पुत्र जिसका नाम 'वेदविचक्षण' था, वह पिता की राह देखते हुए थक गया और अब परदेश भ्रमण हेतु निकल गया। वह पुत्र वेदशास्त्र एवं अन्य शास्त्र का जानकार है, अत: अनेक राजदरबार में जाकर शास्त्रचर्चा करता है; अनेक राजा व पंडितों को प्रसन्न करके स्वयं आनंद की अनुभूति करता है।

क्या ऐसा ज्ञानी युवान भी वैश्यागामी बन सकता है? हाँ, युवावस्था, मृत्यु के पूर्व पिता ने भी अमाप धन रखा था और परदेश में किसीका रोकना-टोकना नहीं, समाज की जान-पहचान का कोई भार नहीं; इन तीन कारण से युवान वेदविचक्षण ब्राह्मण अपने मार्ग से पतित हुआ।

वेदविचक्षण की माता कामलता जिस नगर में वैश्या बनकर रहती थी, उसी नगर में वह पहुँचा। राजदरबार में पहुँचकर शास्त्रचर्चा करके सबको प्रसन्न कर दिया, वहीं उसने सुना कि एक वैश्या अत्यंत रूपवान है। यह सुनकर ही वेदविचक्षण के मन में लालसा जागृत हुई, कामना जागृत हुई और सीधे

वैश्या के गृह पहुँचा। उसका अद्‌भूत रूप देखते ही वो मंत्रमुग्ध हो गया। उसने सोचा कि, 'वतन से दूर परदेश में आने का फल आखिरकार मिल ही गया।'

माता–पुत्र पाप में आसक्त :

वेदविचक्षण का अपनी माता से मात्र दो वर्ष की आयु: में ही वियोग हो गया था, कभी माता को देखा ही नहीं। यहाँ माता मिली, पर कैसे जानेगा कि यह मेरी माता है?

वैसे, कामलता ने भी उसे दो वर्ष की आयु: में ही त्याग दिया था और इतने वर्षों के पश्चात् पुत्र नवयुवान बन चुका है, तो वह भी उसे नहीं पहचान पाई।

दोनों ने भी अपना पाप छुपाने हेतु नाम भी बदल दिये होंगे। इस तरह स्वसंबंध का लेशमात्र ज्ञान नहीं हुआ, कोई पहचान ही ना हुई और विषयासक्त बनकर दोनों माता–पुत्र पापाचार करने लगे।

अज्ञान का भयावह स्वरूप :

संसार में अज्ञान भी कैसा भयावह है ! माता–पुत्र के रूप में खून का रिश्ता होने के बावजुद अज्ञान वह भूला देता है और तुच्छ पाप करवाता है। शास्त्र कहते है :

'अज्ञानं खलु कष्टं, हिंसादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्य:' अर्थात् हिंसा–झूठ–चोरी–मैथुन आदि तमाम पापों से भी बढकर अज्ञान दु:खदायी है, क्योंकि हिंसादि पापों के मूल में भी अज्ञान ही कार्यरत है।

जीव को स्वात्मा की पहचान नहीं है, अत: वह यह नहीं समझता कि, 'हिंसादि पापों से स्वात्मा को ही परलोक में जालिम दु:खों का सामना करना पडेगा।' फिर क्यों पाप से दूर रहेगा?

तत्क्षण तो उसे मात्र मन को भाये वही सुख लगता है; और कहीं कुछ गलत कर रहा हो, तो उसे छुपाने हेतु मायादि पाप भी करता है। परलोक की कोई चिंता है ही नहीं, अत: मायादि द्वारा परलोक में दु:खदायी फल प्राप्त होंगे; इसका कोई विचार ही नहीं है। ऐसी स्थिति में पापाचरण में कोई संकोच या अफसोस नहीं रहता। इन तमाम बातों का आधार है अज्ञानदशा।

आत्मज्ञान के बिना दु:ख का अंत नहीं :

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा ने योगशास्त्र में फरमाया है कि,

'आत्माज्ञानभवं दु:ख–मात्मज्ञानेन हन्यते।
तपसाप्यात्मविज्ञान–हीनैच्छेत्तुं न शक्यते।'

अर्थात् आत्मा के अज्ञान से ही दु:ख उत्पन्न होता है, अत: वह दु:ख आत्मा के ज्ञान से ही नष्ट होगा। आत्मज्ञानरहित जो तप किया जाता है, उस तप से भी दु:ख नष्ट नहीं होगा।

कमठ तापस तप तो कर रहा था, किन्तु आत्मा के वास्तविक ज्ञान का अभाव था, अत: जब पार्श्वकुमार ने उसके यज्ञ में लकडी में से अर्धजला सर्प बाहर निकाला, तब 'अरे ! मेरे पंचाग्नि तप में निर्दोष सर्प की यह दु:खदायी हालत?' इस प्रकार पश्चात्ताप और कुमार ने सही मार्ग बताया इसलिए आनंद व्यक्त करने के बदले पार्श्वकुमार पर द्वेष करने लगा !

आत्मा का वास्तविक ज्ञान होता, तो अनंतकाल से इस प्रकार हिंसादि पापवश संसारभ्रमण करनेवाली निराधार स्वात्मा को देख पाता और पश्चात्ताप व आनंद के भावों में प्रवेश कर पाता। परंतु स्वात्मा दृष्टि में ही नहीं है, अत: दु:ख में जा गिरा।

अरे ! वह कमठ तापस और ज्यादा तप करने लगता है, क्यों? आत्मकल्याण हेतु? नहीं, पार्श्वकुमार के प्रति द्वेष और लोक में उसकी सच्चाई बाहर आने से मन अशांत हो गया। जिससे मन में सोचा कि, 'अब और ज्यादा तप करके देव बनकर दिखाऊँगा।'

तप किया और व्यंतर देव भी बना, किन्तु सुखी हुआ? नहीं। अब पार्श्वनाथ परमात्मा मुनि बने है और वह देव उनके द्वेष से जल रहा है।

द्वेष–संताप है ही ऐसे कि चाहे कितनी भी सुखसुविधा प्राप्त हो, फिर भी जीव को अंतर में सुख की नहीं, अपितु दु:ख की संवेदना ही प्रगट करवाते है।

कमठ ने कठोर तप किया, किन्तु दु:ख का ह्रास नहीं कर पाया, दु:ख का अंत नहीं कर पाया। सच्चे आत्मज्ञान के बिना दु:ख का अंत संभव नहीं। अब यह मत कहना कि,

प्रश्न : वह दुःख तो द्वेष की वजह से है ना? उसमें आत्मा का अज्ञान बीच में कैसे आया? देव बना इसका अर्थ यही हुआ ना कि आत्मा ने कुछ ज्ञान प्राप्त किया है?

उत्तर : आत्मा का अज्ञान इस तरह बीच में आया कि द्वेष भी वह अज्ञान की वजह से ही पैदा हुआ था। देव होने के पश्चात् विभंगज्ञान से जाना कि तप के प्रभाव से स्वयं देव बना है, किन्तु अब उसके भीतर समताभाव और धर्मभावना-वृद्धि की भावना ही नहीं है।

उलटा, वह तो यह सोचता है कि, 'पार्श्वकुमार राजपुत्र ने मेरे यज्ञ के समय काष्ठ से सर्प को बाहर निकालकर लोक में मेरा अपमान किया था। अच्छा हुआ कि मैंने तपोवृद्धि की और अब देव बना। तो अब मैं भी उन्हें परचा बता देता हूँ।' यह सोचकर समताभाव में स्थिर होने के बदले द्वेषभाव में जलता है। देव अवस्था प्राप्त कर के पूर्वभव की तमाम बातें जानने के बावजुद भी समताभाव और धर्मभाव प्राप्त न हो, तो वह द्वेष, हिंसाबुद्धि पैदा करनेवाले ज्ञान को वास्तविक आत्मज्ञान कैसे कह सकते है? अब सवाल होगा कि,

प्रश्न : देवभव में पूर्वभव के स्वात्मा को जाना और द्वेष उत्पन्न हुआ, इस घटना में 'आत्मज्ञान का अभाव' कैसे माना जायेगा?

उत्तर : पहले तो 'आत्मज्ञान' किसे कहते है? वह समझना आवश्यक है।

'आत्मा का ज्ञान' किसे कहते है? :

जिसने स्वात्मा को जाना, पर उसके बंध, मोक्ष को नहीं जाना, तो क्या उसने आत्मा को जान लिया?

सत्कृत्य से सद्गति और दुष्कृत्य से दुर्गति को नहीं जाना, तो क्या उसने आत्मा को जान लिया?

संसार की मलिन भावना, क्रोध, अभिमान, मायाप्रपंच, वैरवृत्ति और नाशवंत पदार्थों पर हरक्षण ममता; यह तमाम आत्मा के दुर्गुण है। जबकि क्षमा-समता, नम्रता-लघुता, निखालसता-सरलता, गुणानुराग, वैराग्य, निस्पृहता; यह तमाम

आत्मा की उज्ज्वलता है। जिसने यह तथ्य नहीं जाना; क्या उसने आत्मा को जान लिया?

'जानने' का अर्थ क्या है यह समझना जरुरी है। व्यवहार में कुछ जानने के साथ उसके अनुरूप जिम्मेदारी को भी निभाना पडता है। जैसे कि,

यदि जानकारी है कि 'ज्यादा व्यय करना भारी पड सकता है' तो कुछ किसी चीज की खरीदी में सोच-समझकर ही खर्च किया जाता है; और कभी ज्यादा खर्च हो गया हो, तो मन बैचेन हो जाता है; खर्च करने पर जो भी व्यय हुआ, उसका पुन:यापन करने की चिंता सताती रहती है।

पुत्र कहीं मर्यादा से अधिक धनखर्च कर लेता है, तो मन में अशांति फैल जाती है। तत्समय पुत्र को टोकने पर वह कहता है कि, 'मैं जानता ही हूँ कि ज्यादा खर्च नहीं करना चाहिये' तो तुरंत क्रोधित हो कर उसे कहा जाता है कि, 'तो फिर तुम्हारी जानकारी का फायदा ही क्या? क्यों हद से ज्यादा खर्च कर लिया?'

यह क्या है? 'जो भी जान लिया है, वह अवसर आने पर तुरंत नजरों के सामने प्रकाशमान होना जरुरी है' यह समझ है; जहाँ नुकसानी हो वहाँ सावधान बनना जरुरी है; यह विचार है, तभी तो नुकसान होने पर मन अशांत बन जाता है।

जो भी जानकारी प्राप्त की है, उसके अनुरूप कर्तव्यों का पालन भी ज्ञात हो; तब वह जानकारी सही साबित होती हे।

बस, इसी तरह आत्मा को जाना - 'आत्मा का बंधन क्या, आत्मा की मुक्ति कैसे, कैसे सत्कार्यों से आत्मा की सद्गति होगी और कैसे दुष्कृत्यों से आत्मा की दुर्गति होगी, आत्मा की कमजोरी क्या और आत्मा की उज्ज्वलता क्या?' यह तमाम तथ्य का ज्ञान प्राप्त किया, किन्तु इस ज्ञान के प्रति कोई कर्तव्यपालन है क्या? कोई जिम्मेदारी का अनुभव किया? नुकसान में पूर्व ही सावधानी और नुकसान होने पर मन में दु:ख हो; ऐसी स्थिति का निर्माण हुआ? 'हम तो आत्मा को जानते है' इस प्रकार का दावा करते है, किन्तु जिम्मेदारी का कोई एहसास ही नहीं है। आत्मा को नुकसान करनेवाले विषयों

में पहले से ही सावधानी बरतते नहीं। नुकसानी हो जाने पर कोई दु:ख भी नहीं होता। यह तमाम तथ्यों पर प्रगाढ चिंतन करना जरुरी है।

प्रात:कालीन विचार :

प्रात:काल निद्रामुक्त हो कर शांत-शीतल माहौल में स्वयं से सवाल करो कि क्या मैं मेरी ही आत्मा को जानता हूँ? पहचानता हूँ? यदि जानता हूँ-पहचानता हूँ तो,

(१) उस आत्मा के बंध-मोक्ष का ध्यान कभी रखा?

(२) सुकृत का उत्साह, दया-दान-परोपकार, त्याग-तप-संयम आदि का उत्साह कितना रखा?

(३) इन उत्तम भावनाओं से विपरीत; स्वार्थांधता-निर्दयता और भोगविलास को मानो पूर्व कभी देखा ही ना हो इस प्रकार अतृप्ति-लालसा-आसक्ति-विषयलंपटता में कितना प्रवृत्त हूँ?

(४) क्रोध-लोभ-मद-माया आदि मेरे दुर्गुण है, यह होश क्यों नहीं रहता?

(५) यह सब होने पर भी मन में रोई रंज ही नहीं है।

(६) आत्मा की पहचान करवानेवाले और स्वयं साक्षात् देखनेवाले परमात्मा की प्राप्ति के बावजुद भी मैंने आत्मा की क्या पहचान की है?

इत्यादि पदार्थों पर शांत व स्थिर चित्त से चिंतन करो। प्रात:काल की शांत और शीतल व्याप्ति ही ऐसी है कि तत्समय हृदयस्पर्शी विचार जागृत हो सकते है।

प्रभु को प्रात:कालीन प्रार्थना :

तत्पश्चात् मंद स्वर से प्रभु से प्रार्थना करो कि,

'हे प्रभु ! आपने तो उत्तम प्रकार से आत्मा की पहचान करवाई है, किन्तु मैं तुच्छ आत्मा दिनभर आत्मा को ना देखते हुए मात्र धन-संपत्ति, परिवार, रसास्वादन, व्यापार को ही देखता हूँ।'

'आत्मा के कर्मबंध के कारण, दुर्गति के कारण, आत्मा की कलुषितता की कोई चिंता ही नहीं है।'

'हे नाथ ! मेरी रक्षा करो, मेरे भीतर आत्मा की वास्तविक पहचान प्रगट करो।'

'प्रभो ! निजात्मा को अहितकर विषयों का सेवन ना करने की सावधानी बरते यह आशीष दो। यदि कोई अहितकर कदम उठा लूँ, तो मेरा मन व्यथित हो, यह सत्त्व प्रदान करो।'

'हे कृपालु ! आपने तो महा अपराधी महादुष्ट चंडकौशिक जैसे जीवों का भी उद्धार किया है, आत्मपहचान करवाई, पापमार्ग से बाहर निकालकर पाप के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करवाया और अस्खलित धर्माराधना प्रदान की, तो मुझ जैसे दरिद्र पर भी कृपा करो।'

सुबह के समय यह आत्मचिंतन और हृदय द्वारा प्रार्थना प्रतिदिन करने पर बडा फर्क महसूस होगा। सच्चे भावुक मन से की गई प्रार्थना अपना कार्य करेगी, वह प्रार्थना निष्फल नहीं जायेगी।

आत्मा को जानने की, पहचानने की और तत्पश्चात् आत्मा के हित-अहित की चिंता आवश्यक है। यह दशा प्राप्त होने पर आचार-विचार-उच्चार में, व्यवहार में भारी बदलाव होगा। मन को महसूस होगा कि,

हृदय की भावना :

'छोटी-सी जिंदगी है, अब इसमें आत्मा का नुकसान क्यों करना? नाशवंत पदार्थ की खातिर आत्मा का अहित क्यों करूँ? खानपान, वस्त्रालंकार यह तमाम भोगसामग्री कायमी तो क्या, दूसरे दिन भी तृप्त नहीं कर पायेगी, तो इन विषयों में क्यों आनंद-प्रमोद का अनुभव करूँ?'

'संसार में यह तमाम भोगसामग्री तो अनेक मिल जाती है और प्राप्त की भी है; किन्तु इस संसार में जिनेश्वर भगवंत और जिनवचन की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। वो प्राप्ति मुझे परम सौभाग्य से हुई है, तो उनकी श्रेष्ठ आराधना करूँ।'

'जिन और जिनवचन की आराधना से बढकर कोई कर्तव्य नहीं है, कोई पराक्रम नहीं है, कोई हितमार्ग नहीं है, तो फिर क्यों इस अल्प जीवन में उनकी आराधना गँवाऊँ?'

प्रात:काल में ही यह विचार कर लिये, तो दिन में कई बार यही विचार प्रगट होंगे। अत: सतत जागृति बनी रहेगी, आत्मा जागृत रहेगी और आत्मा की पहचान व उसके हिताहित दृष्टिगोचर होते रहेंगे। फिर तो जीवन में, आचार-विचार-उच्चार में फर्क हो कर रहेगा।

आत्मा के अज्ञान से कैसी दुर्दशा? :

जीवन में यह फर्क ही ना हो,

(१) 'हाय पैसे ! हाय लालसा !' आदि प्रलोभन ही व्याप्त हो,

(२) खानपान, विषयों में कोई मर्यादा नहीं, संयम नहीं, ना मिले तो माफ, मगर मिले हुए तमाम भोग में आसक्त हो,

(३) हिंसादि और कषाय के पाप नि:शंक और मर्यादाहीन प्रवर्तमान हो,

(४) स्वार्थ-माया का ही हिसाब, और

(५) काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-इर्ष्या, सगे भाई के साथ वैर-विरोध, आदि से भरपूर जीवन हो,

(६) जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा का कोई पालन ना हो, आराधना की कोई परवाह ना हो,...

तो इन तमाम पापों में वास्तविक कारण आत्मा का अज्ञान ही है। निजात्मा को जाना नहीं, पहचाना नहीं, उसके हिताहित का कोई विचार नहीं, तभी तो यह तमाम विपरीत क्रिया चल रही है, अनादि से यही खैल चल रहा है।

'आत्माज्ञानभवं दु:खं' अर्थात् दु:खमात्र आत्मा के अज्ञान से ही उत्पन्न होता है।

जिसने वास्तविक स्वरूप से आत्मा को जान लिया है, उसके दु:ख का तो अंत आ ही चुका समझों।

महात्माओं को जीते जी चमडी छीलना, मस्तक पर अग्नि से जलना, घाणी में पीसकर मरना,... इत्यादि भयावह दु:ख प्राप्त हुए, किन्तु उन्होंने आत्मा को जान लिया था, पहचान लिया था, अत: उन्होंने 'तमाम पीडा शरीर से

संबंधित है' यह देखा, आत्मा को महान कर्मक्षय का लाभ होता हुआ देखा, अत: उन्होंने उन उपसर्गों में दु:ख को देखा ही नहीं।

त्रिभुवनगुरु श्री महावीर स्वामी को साधनाकाल में अपार जुल्मों का सामना करना पडा, किन्तु उनकी दृष्टि में आत्मा का ही दर्शन प्रवर्तमान था, अत: उन उपसर्गों में उनको कोई दु:ख दृश्यमान नहीं हुआ।

आत्मा के अज्ञान में ही दु:ख है, आत्मा के अज्ञान से ही पापों की वृद्धि होती है।

'**अज्ञानं खलु कष्टं...**' आत्मा का अज्ञान तो हिंसादि पापों से भी ज्यादा दुष्ट पाप है।

समस्त विश्व इस अज्ञान नामक महापाप की बदौलत ही अन्य हिंसादि करोडों पाप करता है।

कामलता और वेदविचक्षण ब्राह्मण माता-पुत्र है; किन्तु एक दूसरे को पहचान नहीं पाते, अज्ञानदशा में है; अत: अनाचार में प्रवृत्त है। एक तरफ दोनों की विषयांधता प्रचुर है, तो दूसरी तरफ यह अज्ञान, पहचान का अभाव; फिर तो क्या बाकी रहना था?

सगे माता-पुत्र होने के बावजुद वैश्या और यार की भाँति तिर्यंचो की तरह विषयलंपट बन चुके है। विषयासक्त होने के बावजुद यदि यह पहचान होती कि, 'वह मेरी माँ है' या 'वह मेरा पुत्र है', फिर तो चाहे कैसा भी रूप हो, स्पर्श हो, फिर भी परस्पर के प्रति दुराचार पैदा नहीं हो सकता। किन्तु इन दोनों में अज्ञान है, पहचान नहीं है, अत: घोर आनंद से पापों का सेवन कर रहे है !

अज्ञान ही महापाप है, पापों का बाप है।

८. पुत्र की पहचान

पुत्र पहचान प्रदान करता है :

कामलता और वेदविचक्षण दोनों एकदूजे को जानते नहीं, दोनों के बीच क्या रिश्ता है, उसकी उन्हें कोई पहचान नहीं, अत: दुराचारी बन जाते है। एक दिन वेदविचक्षण ब्राह्मण बोलता है कि,

'कल मैं यहाँ से चला जाऊँगा।'

कामलता को उसके साथ खून का रिश्ता तो है ही, अत: उस के प्रति विशेष प्रेम हो गया था। वह दु:खी हो कर बोलती है : 'कुछ समय और यहीं रहो।'

'नहीं, अब ज्यादा नहीं रुक सकता। अब जाना होगा, काफी दिन हो गये।'

'अब पुन:मिलन कब होगा? तुम कहाँ के रहनेवाले हो? क्या करते हो?'

वेदविचक्षण को अब जाना ही है, अत: कामलता के इस प्रश्न का संपूर्ण प्रत्युत्तर देता है : 'मैं ब्राह्मण का पुत्र हूँ। जब मैं मात्र दो वर्ष का था, तब मेरी माता कामलता नगर के बाहर पानी भरने गई थी। तभी दुश्मन राजा उसे उठाकर ले गया और स्वयं के पास कैद करके रख दिया। बरसों के बाद राजा ने दान की घोषणा की, तब मेरे पिता वहाँ दान लेने गये। तभी मेरी माता से मिलन हुआ। माता ने उन्हें काफी धन प्रदान करके काली चौदस के दिन देवी के मंदिर में आने को कहा, जिससे उनके साथ मेरी माता भी पुन: अपने घर लौट आये। मेरे पिता उस वक्त मंदिर में गये तो थे, किन्तु फिर वह कभी लौटकर नहीं आये। पश्चात् अभागी मैं माता-पिता के वियोग से देशाटन हेतु निकल गया और यहाँ आ गया।'

कामलता तो यह सुनकर हैरान रह गई। वह सोचने लगी कि, 'हाय ! यह मैंने क्या कर लिया? अपने ही पेट से जन्म देनेवाले पुत्र के साथ कुकर्म? किन्तु अब यदि मैंने इसको सच्चाई बता दी, तो यह बिचारा पागल बन जायेगा या तो आत्महत्या ही कर लेगा।' यह सोचकर कामलता सच्चाई को छुपाते हुए बोली : 'अरे ! क्या ऐसा हो गया?'

सवाल तो यह भी होता है कि ब्राह्मण ने क्यों वैश्या से उसकी हकीकत ना पूछी? वह वैश्या कैसे बनी; वह क्यों नहीं पूछा?

जवाब है : पवित्र आर्यभूमि के लिये माना जाता है कि इस भूमि पर जन्म प्राप्त करनेवाली उच्च खानदान की स्त्री वैश्या नहीं बन सकती। कोई नीचकुल या किसी अन्याय से जन्म प्राप्त करनेवाली और जन्म प्राप्त करते ही जिसका त्याग किया गया हो और वह किसी वैश्या के हाथों फँस गई हो वह स्त्री ही वैश्या बनती है। अन्यथा उत्तम कुल के आत्मा ऐसा अधमाधम व्यापार नहीं कर सकते।

इसीलिए नीचकुल की वैश्या को भला क्यों पूछना कि, 'तु वैश्या कैसे बनी?' वेदविचक्षण ब्राह्मण इसी न्याय से कामलता को उसके विषय में कोई सवाल नहीं करता।

उत्तम कुल की विशेषता :

उत्तम कुल के आत्माओं के लिये पूर्वकाल में यही दृढ मान्यता थी कि वह आत्मा अधमाधम मार्ग का सेवन नहीं करते। तभी तो शास्त्रकारों ने श्रावक के गुणों में एक गुण 'कुलवान' कहा है और चारित्र ग्रहण करने की योग्यता में १६ गुण में भी एक गुण 'कुलवान' बताया है। क्यों? क्योंकि,

उत्तम कुलवान आत्मा अधम मार्ग का सेवन, अधम कार्य करता ही नहीं, जिससे धर्मनिंदा का भय भी नहीं रहता। अन्यथा श्रावक या साधु हो कर अधम कार्य होता है, तो लोक में धर्म की निंदा होती है कि, 'देखा, इन लोगों का धर्म ! जो तुच्छ, अधम कार्य करने की आज्ञा देता है।' अत: कुलहीन को साधुधर्म प्रदान नहीं कर सकते। जबकि कुलवान आत्मा धर्म की प्रभावना करता है। यहाँ प्रश्न होगा कि,

नीच कुलवान को दीक्षा क्यों नहीं? :

प्रश्न : चमार आदि अधम कुल का कोई आत्मा महावैरागी बना हो, गुणीयल हो, तो वह कोई अधम कार्य नहीं करेगा। तो इस प्रकार के आत्मा को दीक्षा प्रदान करने का निषेध क्यों है?

उत्तर : वह निषेध भी धर्म की निंदा रोकने के लिये ही है। क्योंकि यदि इस आत्मा को साधु बनाया गया, तो लोक में निंदा होगी कि, 'जैनधर्म तो तुच्छ ही है, क्योंकि यहाँ तो भंगी, चमार जैसे लोगों को भी रखा जाता है। धर्म मूल्यवान है, तो वह धर्म नीचकुल के लोगों को प्रदान क्यों करते हो?'

इस प्रकार के वचनों से धर्म की निंदा ना हो, इसलिए कुलहीन को दीक्षा प्रदान नहीं की जाती। अरे ! उस कुल में साधु गोचरी हेतु भी नहीं जा सकते। अन्यथा निंदा होती है कि, 'ऐसे नीचकुल का भोजन ग्रहण करनेवाले लोगों का धर्म भी हल्का ही होगा !'

धर्म चाहे कितना भी करो, किन्तु यह भी ध्यान रखें कि आपके आचार-विचार के द्वारा धर्म की निंदा ना हो।

धर्म की निंदा में निमित्त क्यों नहीं बनना चाहिये? जीवों की करुणा करने हेतु।

यह लापरवाही ना करें कि, 'लोक धर्म की निंदा करता है, तो वह लोक की समस्या है, उसमें हमें क्या?' क्योंकि वैसे भी हमारी शक्ति हो, तो उसका सदुपयोग करके धर्म की निंदा को रोकना ही है, तो फिर धर्म की निंदा में निमित्त कैसे बना जा सकता है?

मरनेवाले जीव को हमारी शक्ति होने पर उसे बचाना ही चाहिये। जैसेकि क्षुधा से पीडित हो कर मरते हुए जीव को भोजन देना, प्यास से तडपकर मरते हुए को पानी देना, इस प्रकार मरते हुए को बचाना है, तो फिर हम ही किसी के लिये मौत का निमित्त बन जाये; यह कैसे स्वीकार्य होगा? वहीं बात यहाँ समझनी है।

लोक धर्म की निंदा करता है, तो उसमें दो बडे नुकसान होते है :

(१) लोक में धर्म की निंदा करके बालजीव धर्म प्राप्ति से दूर हो जाते है।

यदि उन्होंने देखा कि, 'धर्म के लिये हल्की बातें फैल रही है' तो वह सोचेगा कि, 'धर्म तो तुच्छ है, उसका पालन क्यों करना?' इस प्रकार बालजीव धर्म की निंदा सुनकर धर्म से दूर हो जाते है और पापासक्त ही रहते है, जिससे दुर्गति के मालिक बनते है।

(२) धर्म की निंदा करनेवाले दुर्लभबोधि बन जाते है; अर्थात् धर्मनिंदा से गाढ मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म का उपार्जन करते है, फलत: उन्हें भवांतर में बोधि अर्थात् जैनधर्म की प्राप्ति ही मुश्किल बन जाती है, दुर्लभ हो जाती है।

वह जीव यहाँ तो धर्म प्राप्ति ना कर पाये, किन्तु भवांतर में भी धर्म प्राप्त नहीं कर पायेंगे। यदि उन आत्माओं को यहाँ धर्मनिंदा का निमित्त ना मिलता, तो वह आत्मा धर्मनिंदा नहीं करते और उत्तम धर्मसाधना देखकर प्रशंसा भी करते; जिससे सुलभबोधि की प्राप्ति कर पाते और भवांतर में भी जैनधर्म की सुलभप्राप्ति कर पाते।

परंतु हमारे द्वारा गलत निमित्त प्राप्त करने पर वह आत्मा धर्मनिंदा करते है, जिसके कारण दुर्लभबोधि बनकर धर्म से दूर चले जाते है, और 'भवांतर में भी जैनधर्म से दूर चले जाते है' इसका अर्थ यह है कि धर्म के प्रति द्वेषभाव रखनेवाले और पापासक्त बनेंगे, जिससे दुर्गति की परंपरा का अंत हो ही नहीं पायेगा।

इस प्रकार धर्म की निंदा के दो प्रकार अर्थात् निंदा करनेवाला और निंदा सुननेवाला दोनों को धर्म की दुर्भलता और पापमय दुर्गति की परंपरा ! यह दोनों नुकसान देखते हुए ज्ञात होता है कि उन जीवों को निंदा का निमित्त प्रदान करनेवाला ही गुन्हेगार है।

गुनाह भी कैसा विशाल? धर्मनिंदा का निमित्त दे कर निंदा करनेवाले और सुननेवाले दोनों आत्माओं को भवांतर में भी धर्मरहित और पापासक्त बना दिया। वह आत्मा दु:खमय भवभ्रमण करते रह जायेंगे !

तभी तो इस दु:खपरंपरा और पापपरंपरा में जीव ना फँस जाये, अत: उन पर करुणा बरसती है। मन में यही विचार पैदा होता है कि, 'क्यों लोक को वह निमित्त दिया जाये, जिससे वह धर्मनिंदा करके भावी पापमय और दु:खमय

जीवन को न्यौता दे?' इस प्रकार भाव करुणा से प्रेरित हो कर ऐसा कुछ ना करें, जिससे अज्ञान लोक को धर्मनिंदा करने का मौका मिले।

यह तथ्य समझने पर स्पष्ट होता है कि, 'अधम नीच कुल में जन्म प्राप्त करनेवाला कोई आत्मा वैरागी बनने पर भी उसे साधुदीक्षा क्यों प्रदान नहीं की जाती?'

कारण यही है कि अज्ञान लोक उस साधु को देखकर जैनधर्म की निंदा करेगा कि, 'यह धर्म ही इस प्रकार के नीचकुलीन आत्माओं के लिये है।' इस प्रकार नीचकुल का वह साधु हो कर स्वात्मा का कल्याण करें, उससे भी ज्यादा उसके ही निमित्त से धर्मनिंदा करनेवाले अन्य अनेक आत्माओं का दीर्घकाल तक भयावह अकल्याण हो रहा हो, तो इस बात में लापरवाही करना कैसे उचित है?

नीचकुलीन आत्मा को दीक्षा प्रदान न करने के अन्य कारण :

यह भी समझना है कि नीचकुलीन को दीक्षा देने से लोक में धर्मनिंदा हो; यही एकमात्र कारण नहीं है, बल्कि नीचकुलीन आत्मा साधुजीवन का पालन सुयोग्य स्वरूप से कर पायेगा या नहीं; यह भी सवाल है। क्योंकि,

(१) कहा जाता है कि 'जो कभी नहीं जाती, वही तो है जाति' अर्थात् साधु बनने के बाद भी अवसर होने पर वह आत्मा अपनी जाति के लक्षण बता ही देगा। साधुव्यवहार में कभी नीचकुल के हल्के शब्द भी बोल सकता है या वर्तन भी कर सकता है। ऐसा होने पर सुसाधुओं को आपदा और लोक में साधु के प्रति अभाव-दुर्भाव उत्पन्न होता है।

(२) किसी प्रसंग में उस आत्मा के मोह का उदय होने पर कुलहीनता के संस्कार भीतर में रहने से अकार्य करने हेतु भी तैयार हो जाता है। उत्तम कुल का आत्मा उसके मन में कुल का भार होने से अकार्य करने हेतु तैयार नहीं होगा।

उसके मन में यही विचार होगा कि, 'अरे ! मैं उत्तम कुल से आया हूँ, मैंने यह हल्का कार्य कर लिया, तो मेरे कुल की बदनामी होगी, कुल को कलंकित होना पडेगा।' नीचकुलीन आत्मा को इस प्रकार की कोई फिकर नहीं होती।

उत्तम कुल के आत्माओं की यह खूबी है कि वह धर्म का बिलकुल सही पालन करेंगे, व्रत का भंग नहीं करेंगे। यह गुण भी है कि वह आत्मा जीवन को अधम मार्ग पर नहीं जाने देंगे।

वेदविचक्षण ब्राह्मण यही समझता है, तभी तो वैश्या कोई उत्तम कुल में जन्म प्राप्त करके वैश्या बन गई होगी, ऐसी कल्पना भी वह नहीं कर सकता। 'वैश्या जैसा अधमाधम मार्ग कोई उत्तम कुलीन आत्मा अपना ही नहीं सकता। यह तो नीचकुलीन आत्मा का ही कार्य है।' इस न्याय से ब्राह्मण वैश्या की कोई बात जानना नहीं चाहता और स्वयं नगर छोडकर चला जाता है।

यहाँ कामलता वैश्या वेदविचक्षण की हकीकत सुनते ही अत्यंत दुःखी हो जाती है; उसके मन में भारी ठेस लगती है और उसके मन में भारी पश्चात्ताप हो रहा है कि,

'हे भगवान ! यह सब क्या हो गया? अरे ! खुद के ही पुत्र के साथ वैश्यावृत्ति !

किसी समय में मैं उत्तम कुल की सुशील ब्राह्मणी थी और अब कैसा पतित जीवन हो गया है मेरा? वह भी इस हद तक?

- पति को छोडकर राजा की रानी बन गई!
- वैश्या बन गई! और
- पुत्र के साथ ही दुराचार सेवन कर लिया!

मेरे जैसी पापी तो इस विश्व में कोई चमारन या भंगी औरत भी नहीं होगी। अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? यह धरती मुझ जैसी पापीणी से भारी हो रही है।

'हे प्रभु ! मुझ पर तुम्हारी कोई दया नहीं? पर स्वयं ही भयावह पाप में जानेवाले नालायक आत्मा का तो भगवान भी क्या करेगा? भगवान तो दीन-दुःखीयों का नाथ है, पश्चात्ताप करनेवाले पापीओं का स्वामी है, किन्तु पापासक्तों का नाथ नहीं है। अब मेरा जीना ही बेकार है। जीवन रहेगा तो और पाप करती रहूँगी। अब तो आत्महत्या ही मार्ग है; जिससे धरती भी हल्की हो और मेरे जैसी घोर पापीणी का भार सहन ना करे।'

९. उत्तम कुल का प्रभाव

असंमत नास्तिक का परिवर्तन :

उत्तम कुल की यही महिमा है कि जीवन में कभी ना कभी पाप के पश्चात्ताप की पल प्राप्त होती है।

शास्त्र में असंमत नास्तिक की बात है। वह उत्तमकुलीन होने के बावजुद प्रबल मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से नास्तिक बन गया। 'आत्मा-पुण्य-पाप-परलोक-परमात्मा... कुछ भी नहीं है।' इस प्रकार की बातें करता रहता और इस बात को सही साबित करने हेतु कुतर्क भी लगाता।

वह आत्मा-पुण्य-पाप-परलोक आदि की बातो में संमत नहीं होता था, अत: उसका नाम ही अ-संमत हो गया। नगर में कोई संत-साधु प्रवेश करते, तो वह उन्हें अत्यंत परेशान कर देता। उसने अपने नास्तिकवाद में अनेक सरल आत्माओं को भ्रमित कर दिया। क्या ऐसे आत्मा को कभी पश्चात्ताप हो सकता है? हुआ, कैसे?

नगर में एक बार ललितांग मुनि पधारें। असंमत के साथ व्यर्थ की चर्चा करके समय बरबाद ना करना पडे और स्वयं की अहिंसा-तप-संयम आराधना सुखरूप हो, इसलिए मुनिवर ने नगर के बाहर निरंतर उपवास और मौन के साथ ध्यान शुरु किया।

तब नास्तिक ने व्यर्थ चर्चा फैलाई कि, 'देखों ! इन महाराज के पास स्वयं की आत्मा-धर्म-पुण्य-पाप आदि की कपोलकल्पित बातों के लिये कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए मौन धारण करके बैठ गये।' इस प्रकार की चर्चा करते-करते एक बार उसे मजबूत जवाब मिल गया।

चातुर्मास के दिनों में भारी वर्षा हुई और नगर के किल्ले के बाहर नीची जमीन में पानी की बहाड आ गई। किन्तु आश्चर्य के साथ मुनिवर के तप-संयम के प्रभाव से उनके आसपास का स्थान स्वच्छ और पानीरहित रह गया !

लोग किल्ले के उपर बहाड के दृश्य देखने चढे, किन्तु यह दृश्य देखकर मंत्रमुग्ध हो गये। लोगों में बातें होती है कि, 'देखों ! धर्म का साक्षात् प्रभाव दिख रहा है, परंतु असंमत जो कहता है कि, 'धर्म जैसा कुछ है ही नहीं' वह सब मिथ्या है। हमारे चक्षु के सामने ही धर्म का प्रभाव दृश्यमान है, तो अब कोई कुतर्क करना बेकार ही है। असंमत मात्र झूठ ही फैला रहा है।' इस प्रकार नगर में असंमत का सम्मान चकनाचूर हो गया।

क्या हकीकत में धर्म का प्रभाव है? :

इतिहास गवाह है कि,

- जीरावलाजी पार्श्वनाथ तीर्थ में शंकराचार्य ने आक्रमण किया, तब एक आचार्य भगवंत की हिंमत से तीर्थ और संघ की रक्षा हुई थी। अन्यथा मूर्ति के टुकडे-टुकडे हो जाते और संघ का नाश हो जाता।
- श्रीपालचरित्र में भी वर्णन है कि धवल सेठ ने श्रीपाल को बीच समंदर में फेंक दिया था और तत्पश्चात् जब धवल सेठ श्रीपाल की दो परिणीत राजकुमारी का शीलभंग करने आगे बढ रहा था, तभी उसकी आँखो में अंधापन फैल गया और वह दोनों राजकुमारी को देखने हेतु भटकता रहा।
- कच्छ में जब भूकंप हुआ, तब एक उपाश्रय में आचार्यदेव श्री विजय कनकसूरीश्वरजी महाराज बिराजमान थे। जीर्णोद्धार के कार्य हेतु उपाश्रय के छज्जे में काफी भारी पत्थर रखा था। भूकंप में मकान भी गिर जाते है, तो यहाँ इतने भार के साथ उपाश्रय का क्या हाल होता? किन्तु आचार्य महाराज के चारित्रधर्म के प्रभाव से कुछ भी नहीं हुआ।
- मुंबई में नमिनाथ भगवान के जिनालय में किसी रात्रि को ताले तोडे गये थे, चोर आये थे। किन्तु सुबह पूजारी ने देखा कि प्रभु के अंग पर हीरे का मुगट आदि तमाम आभूषण सहीसलामत थे। कुछ भी चोरी नहीं

हुआ। क्यों? धवल सेठ की तरह ही कुछ चोरों के साथ हुआ होगा, जिससे उन्हें वहाँ से खाली हाथ ही जाना पडा !

- एक महान तपस्वी और नमस्कारमंत्र के आराधक सुखी श्रावक को इन्कमटेक्षवालों ने रु.३३०००/- का झूठा एसेसमेन्ट दे दिया। श्रावक ने कोर्ट केस किया। सामान्यतः इन्कमटेक्ष के केस में कोर्ट भी इन्कमटेक्ष कमीश्नर का हुकम मंजूर करते तो है, किन्तु यह श्रावक तो फेंसले के दिन कोर्ट में जा कर शांति से नवकार मंत्र गिनने लगे। क्यों?

  नवकार से केस जीत सके, इसलिए? नहीं, किन्तु अर्थ-काम के पुरुषार्थ से ज्यादा धर्म का पुरुषार्थ ही महान है, यही सार है और लोक-परलोक में हितकारी पुरुषार्थ है; यह श्रद्धा थी। धर्म का प्रभाव भी हुआ कि कोर्ट ने वह एसेसमेन्ट को रद कर दिया।

धर्मप्रभाव के अनेक उदाहरण है।

तपस्वी ललितांग मुनि के धर्मप्रभाव से पानी उनके आसपास की कुछ जगह छोडकर बहता रहा। अनेक लोगों ने यह प्रभाव देखा, फिर तो धर्म के प्रभाव को क्यों नहीं मानेंगे?

असंमत को लोगों ने कहा कि, 'यह देख ! तुं धर्म और आत्मा इत्यादि नहीं है; यही बोलता फिरता है, तो यहाँ तो धर्म का साक्षात् प्रभाव दिख रहा है। तो फिर क्यों मिथ्याभाषण करता रहता है?'

नास्तिक की दुष्टता : किसीके गुनाह पर किसीको सजा :

नास्तिक की भारी हाँसी हुई, उसे उसका भारी अपमान लगा। उपर से 'मुनि ने ही यह अपमान किया है' यह सोचने लगा। मुनि पर द्वेष करके अवसर प्राप्त होते ही रात्रि को मुनि के पास जा कर काष्ठ की चिता बनाकर अग्नि प्रज्वलित करके भाग गया। गुनाह किसीका और सजा किसीको !

संसार के जीव भी कैसे विचित्र है कि स्वयं की गलती से ही स्वयं का अपमान हो, स्वयं के स्वार्थ की पूर्ति ना हो, तब भी अन्य को जिम्मेदार मानकर उस पर द्वेष करता है।

यहाँ भी मुनिवर का कोई गुनाह नहीं था।

गुनाह गिनो तो उन्होंने अपने तप-संयम-ध्यान का पालन किया वही, परंतु क्या यह गुनाह है? दोष है? नहीं, फिर भी नास्तिक लोक में अपनी बदनामी होने का कारण मुनि को ही मानता है।

सत्त्वहीन जीव स्वदोष ना देखते हुए निर्दोष के दोष को ही देखता है।

हमें भी हमारे जीवन पर ध्यान देना है कि क्या हम भी ऐसा करते है? जैसेकि आप मार्केट से घर देरी पर पहुँचे, गर्म नहीं बल्कि ठंडा हो चुका भोजन प्राप्त हुआ, तब मन में क्या विचार पैदा होते है?

स्वदोष देखकर सामनेवाले को आश्वासन देने का मन होता है कि, 'चिंता मत करना। आपने तो समय पर ही भोजन बना दिया था, किन्तु मुझे आज आने में वक्त लग गया, इसलिए स्वाभाविक है कि भोजन ठंडा तो होगा ही। फिर भी बर्फ के जैसे ठंडा नहीं हुआ, अत: कोई फिकर नहीं है' क्या आपको मन में स्वदोष दिखता है? या सामनेवाले का दोष दिखता है?

यही कहने का मन होता है ना कि, 'मैं इतनी मजदूरी करके घर आता हूँ और तुम्हें भोजन गर्म रखने की अक्कल भी नहीं है।'

यदि इस प्रकार के वचन बोले जाते है, तो सामनेवाले निर्दोष आत्मा का ही दोष देखा गया कहेंगे। ऐसा क्यों होता है? सत्त्वहीनता की वजह से।

जीवन में सत्त्वहीनता के कारण स्वयं के दोष भूलकर अन्य निर्दोष की भूल देखना पसंद रहता है। आध्यात्मिक नजरीये से देखें, तो जीव को जो भी दु:ख या असुविधा प्राप्त होती है, वह भले ही किसी जीव या संयोग की वजह से हो, किन्तु वास्तविकता में वह स्वयं के कर्मों का ही फल है।

नियम है : हमारे अशुभ कर्मों के बिना हमारा कोई कुछ भी नहीं बिगाड सकता। सत्त्व जुटाकर हमें दु:ख में स्वयं के कर्मों का ही अर्थात् स्वयं का ही दोष देखना है, अन्य किसीका नहीं।

इस बात को दूसरे तरीके से भी मान सकते है कि अन्य जीव या संयोग को दोष ना दे कर स्वयं के कर्मों का दोष देखने पर हमारे सत्त्व की रक्षा होती है,

सत्त्व का विकास होता है और फलत: अन्य पर क्रोध, द्वेष या तिरस्कार नहीं होगा। इस प्रकार भी सत्त्व का विकास होगा।

जीवन में अनेक प्रसंग बनते है, जब सत्त्व का विकास निरंतर हो सकता है। सोचों,

अनेक प्रसंगो से भरपूर यह मानवभव सत्त्व के रत्नों की खान है।

सत्त्व का महत्त्व :

खान से रत्न निकालने की काबिलीयत का होना जरुरी है।

'सत्त्व प्राप्त नहीं हुआ, तो क्या हो गया?' यह ख्याल मन से निकाल दे। सुवर्ण का मूल्य भी सत्त्व के आधार पर ही तय होता है, अन्यथा उपरी जगमगाता रूप तो पित्तल का भी होता है। किन्तु उसका कोई मूल्य नहीं है। सुवर्ण का उच्च मूल्य बताया जाता है, क्यों? क्योंकि अग्नि में प्रवेश करते ही पित्तल का चमकते रहने का सत्त्व नहीं है, सुवर्ण में वह सत्त्व है।

इसी प्रकार सत्त्व है, तो मानवजीवन की किंमत है। सत्त्व के आधार पर अनेक गुणों को ग्रहण किया जा सकता है और अनेक दोषों को उत्पन्न होने से पहले ही रोका जा सकता है। तभी तो सत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है। व्यवहार में भी सात्त्विक आत्मा का मान सर्वाधिक होता है, सत्त्वहीन का नहीं।

क्रोध-मद-इर्ष्या आदि को क्यों जीतना है? :

आज से ही संकल्प करो कि,

'मैं नाशवंत पदार्थों में आसक्त हो कर सत्त्व को नहीं गँवाऊँगा।' इस संकल्प से महान लाभ प्राप्त होंगे, जैसेकि क्रोध, इर्ष्या, रूप-रंग के आकर्षण और अनेक प्रकार की वासना-विकार पर काबू होगा। क्योंकि तब विचार प्रगट होंगे कि,

'यह क्रोधादि करूँगा, तो मेरा सत्त्व ही नष्ट होगा। बेहतर है कि क्रोध ही ना करूँ, इर्ष्या में ना जलूँ और मन को भाये उन विषय-विकारों का राग ना करूँ।'

अभागी असंमत नास्तिक सत्त्वहीन है। अत: जब महात्मा के तप-संयम के प्रभाव से बहाड का पानी उनसे दूर रहता है और अन्य लोग महात्मा के धर्म की प्रशंसा करते है, तब वह नास्तिक इर्ष्या से जल रहा है, उनका ही दोष देखता है और उनको जलाकर राख कर देने के विचार तक कर लेता है।

सत्त्व के अभाव से तामसीभावों का तांडव शुरु हो जाये, मन तामसी विचारों में ही प्रवृत्त रहे और तामसी कृत्य भी कर ले तो आश्चर्य नहीं !

असंमत नास्तिक ध्यानस्थ मुनि के आसपास काष्ठ रखकर अग्नि प्रज्वलित करता है, किन्तु पुन: मुनि के धर्मप्रभाव से आकर्षित होकर देवता काष्ठ तो जलने देता है, किन्तु मुनि को अक्षय स्थिति में बरकरार रखता है ! मुनि को छोटी-सी खरोच तक नहीं होने देता।

प्रात:काल नास्तिक यह जाँच करने आता है, तो उसने देखा कि काष्ठ की राख के बीच महात्मा जीवंत और ध्यान में लीन है !

नास्तिक का पश्चात्ताप :

यह दृश्य देखकर ही नास्तिक के दिलोदिमाग में अनेक प्रश्न उठे। उसने सोचा कि, 'अरे ! यह कैसे हुआ? तमाम काष्ठ जलकर राख हो चुके है, किन्तु काष्ठ के मध्य में मुनि ध्यान में स्थिर है ! मुनि कहीं पलायन करके लौट आये हो, ऐसा कुछ हुआ तो नहीं। क्योंकि अगर मुनि कहीं पर भी जाते, तो काष्ठ बिखरे हुए होते, पर यह काष्ठ तो मैंने जिस प्रकार रखे थे, उसी प्रकार अभी भी मौजुद है। जिससे यह बात तो सिद्ध होती है कि मुनि महात्मा अपने स्थान से कहीं भी नहीं गये। तो फिर मुनिवर को अग्नि की कोई असर नहीं हुई, इसका अर्थ यही है कि उनका धर्म ही कार्य कर रहा है। तो इस धर्म का प्रभाव तो अत्यंत श्रेष्ठ है।'

'मैं हमेशा मानता रहा कि धर्म जैसी कोई बातें होती ही नहीं, परंतु यहाँ किसका प्रभाव है? वास्तव में धर्म कोई कल्पना नहीं, अपितु वास्तविक है; तभी तो धर्म का यह प्रभाव है।'

'असत् वस्तु का कोई प्रभाव नहीं होता। मात्र कल्पना, वास्तविक ना हो वह

असत् है। धर्म यदि कल्पना ही होता, असत् होता तो असत् का प्रभाव ही कैसे हो सकता है?'

'मैं ही भटक रहा हूँ। महात्मा ने धर्म की साधना का मार्ग अपनाया, तभी उनके धर्म का यह प्रभाव है; तो मैं क्यों धर्म का इन्कार कर रहा हूँ? क्यों लोगों को भी गलत मार्ग बता रहा हूँ? मैं पापात्मा, मैंने अनेक आत्माओं को धर्म से विपरीत मार्ग बताया और पाप में रक्त कर दिया !'

नास्तिक को केवलज्ञान :

असंमत नास्तिक स्वयं के नास्तिकवाद और लोगों को भ्रमित करने की चेष्टा पर अत्यंत पश्चात्ताप कर रहा है। तभी उसे पूर्वजन्म का स्मरण हुआ; चारित्रधर्म की साधना देखी और सम्यग्दर्शन की विराधना भी देखी। उसी विराधना के फलस्वरूप इस भव में नास्तिक अवस्था-धर्मनिंदा से त्रस्त जीवन प्राप्त किया।

पाप के पश्चात्ताप में भावधारा शुद्ध होने लगी, पापमात्र पर तिरस्कार पैदा हुआ। स्वयं के अहं और अहं से भी ज्यादा भयावह मिथ्याभाषण आदि तमाम पाप में प्रवृत्त होनेवाली काया पर भी तिरस्कार भाव पैदा हुआ, काया की आसक्ति छूट गई। संसार के तमाम पदार्थ से आसक्ति का त्याग हुआ।

यह अनासक्त योग प्राप्त होने के पश्चात् स्मरण में देखे चारित्र भावों में आगे बढा; भावधारा इस तरह आगे बढी के समग्र रागादि के बंधन टूट गये और वही असंमत नास्तिक वीतराग सर्वज्ञ बनें। केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

नास्तिक को केवलज्ञान? हाँ, रागादि के बंधन तोडने हेतु और स्वयं की काया के प्रति भी अनासक्त बनने हेतु जो तैयार हो और यह सिद्ध कर दिखाये, उसे केवलज्ञान प्राप्त होता है। पूर्वावस्था में भले ही नास्तिक, धर्मनिंदक हो, किन्तु अब उस नास्तिक अवस्था का त्याग कर दिया है, धर्मनिंदा का त्याग करके धर्म का सेवक बन जाता है, तो फिर उस आत्मा के विकास को कौन रोक पायेगा?

जैसे नास्तिक स्वयं की नास्तिकता का त्याग करेगा तो विकास प्राप्त करेगा,

वैसे हम भले ही आस्तिक है, किन्तु विषयों का आकर्षण तो बरकरार है ना? राग-द्वेषादि है ना? यदि उन विषयादि के त्याग की प्रबल इच्छा हो, तभी आत्मीय विकास प्राप्ति संभव है।

नास्तिक को नास्तिकता से ही नफरत हो गई तो क्या हमें,

- विषयासक्ति और राग-द्वेषादि से नफरत होती है?
- क्या अपार पश्चात्ताप होता है?
- इन विषयाकर्षण, राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि को शांत करके उन्हें संपूर्णतया नष्ट करने हेतु भीतर से कोई आवाज उठती है?

यदि कोई आवाज ही नहीं उठती, तो क्या हम सच्चे आस्तिक है?

'नास्तिक गलत, हम सही' कैसे? नास्तिक अपनी नास्तिकता का त्याग कर के भीतर से तमाम बंधन को तोड देता है और हम हमारे कषाय और विषयाकर्षण का त्याग भी नहीं कर सकते, शांत भी नहीं कर सकते, फिर भी हम सही आस्तिक? और नास्तिक दुष्ट? ऐसी भ्रमणा में मत रहना।

आगे बढना है, तो यह करो :

पूर्व की चाहे कैसी भी मोहमय स्थिति हो, किन्तु अब उस स्थिति पर दृढ अफसोस पैदा करो और उसे तोडने हेतु भीतर से प्रचंड पुरुषार्थ उत्पन्न करो। भीतर से यदि उत्तम भावनाओं का धोध प्रगट होगा, तो बाहर से भी उत्तम त्याग-व्रत-नियम-संयम का आचरण करने का मन होगा। क्योंकि इसी कारण से विषयाकर्षण और राग-द्वेषादि कषाय कमजोर होते जायेंगे; जिसकी साबिती आचरण के द्वारा ही प्राप्त होगी।

बात यही है कि उत्तम कुल का यही प्रभाव है कि पाप के पश्चात्ताप का सामर्थ्य भी प्रदान करवा सकता है। नीचकुलीन आत्माओं को प्राय: पश्चात्ताप का सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता है।

असंमत नास्तिक उत्तम कुल का श्रेष्ठीपुत्र था, मन के गलत विचारों के आधीन हो जाने से नास्तिक बना था, किन्तु कुल की खानदानी से उसे पाप का पश्चात्ताप हुआ।

१०. आत्महत्या !!!

कामलता का आत्महत्या का विचार क्यों अयोग्य? :

कामलता ब्राह्मणी वैश्या बन चुकी थी, किन्तु उत्तमकुलीन थी, अत: पुत्र के साथ किये गये अकार्य पर अत्यंत पश्चात्ताप हुआ। यहाँ तक की स्वयं को महापापिणी मानकर स्वयं के भार से धरती भी मर रही है; यह सोचकर धरती का अयोग्य भार कम करने हेतु आत्महत्या के लिये तैयार हो गई।

किन्तु **आत्महत्या का विचार भी योग्य विचार नहीं है। क्योंकि आत्महत्या से जीवन का अंत हो जाता है, परंतु पूर्वकृत पाप और पापसंस्कारों का अंत नहीं होता।**

यदि जीवन का विधिपूर्वक अंत ना हो और मृत्यु प्राप्त होती है, तो भवांतर में वह पाप विस्मृत हो जाने से और कौन जाने कैसा भव प्राप्त होने से पाप और पापसंस्कारों का अंत करने की बात ही नहीं होगी।

दृढप्रहारी को महात्मा ने यही कहा था : '**आत्महत्या से तु मर जायेगा, किन्तु तेरे पाप नहीं मरेंगे।**'

अंतिम अनशन से मरना आत्महत्या क्यों नहीं? :

पाप और पापसंस्कारों को खत्म करने हेतु विधिपूर्वक निष्पाप अहिंसा, संयम और तप की आराधना करना आवश्यक है। यहाँ प्रश्न होगा कि,

प्रश्न : किन्तु अंतिम अनशन करना आत्महत्या नहीं है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि अनशन में मर जाने का उद्देश नहीं है, अत: उसे आत्महत्या नहीं कह सकते। अनशन में विचार होता है कि, 'मैंने इस काया के माध्यम से संभवत: तमाम आराधना की है, अब यह शरीर

नष्टप्राय: हो चुका है और कब प्राणों का त्याग कर दे, कोई भरोसा नहीं है। अत: यह शरीर खत्म हो जाये और उसके द्वारा आराधना की अंतिम क्षण भी प्राप्त ना हो, इससे बेहतर यही है कि मैं पहले से ही सावधान बनकर अनशन ग्रहण करके शरीर से ज्यादा से ज्यादा आराधना का आस्वादन प्राप्त कर लूँ।' यही विचार है, इसलिए मृत्यु प्राप्त करने हेतु नहीं, बल्कि काया के द्वारा अंतिम आराधना करने हेतु अंतिम अनशन किया जाता है।

इसमें 'जीना दुष्कर है, इसलिए मर जाना है' यह विचार ही नहीं है, जीवन के प्रति नफरत भी नहीं है।

- आत्महत्या करनेवालों को तो यह दोनों ही अशुभ भाव होते है : (१) जीवन से नफरत और (२) मृत्यु से प्रेम।

प्रश्न : जो जीवन जीने के लिए पाप करने ही पडते हो, तो यह अशुभ भाव कैसे हुआ?

उत्तर : यह नफरत यदि पाप से होती है, तो शुभ भाव कह सकते है। यदि पाप से नफरत हो जाये, तो पापकार्य स्थगित हो जायेंगे। जीवन से नफरत करके यदि जीवन समाप्त कर लिया, तो यह अशुभ भाव है। क्योंकि नये जीवन में भी पाप का त्याग नहीं होगा। पापाचरण पुन: शुरु होगा, तो उसे कैसे रोक पायेंगे?

यहाँ अभी भी सज्ञान अवस्था है, अत: पाप की पहचान है और पापों का त्याग करना मुमकीन है। अरे ! पाप होते हुए भी पाप के प्रति तिरस्कार भाव पैदा हो सकते है। अन्यथा नये अज्ञानमय जीवन में पाप की पहचान ही नहीं, तो पाप का तिरस्कार भी कैसे होगा? और पाप का त्याग भी कैसे होगा? अत: सज्ञान अवस्थामय जीवन से नफरत करना अशुभ भाव ही तो है।

इस तरह पाप से व्यथित हो कर भी जीवन से नफरत करना योग्य नहीं है। क्योंकि मानवजीवन है, तो धर्म भी हो सकता है, प्रभु का स्मरण भी हो

सकता है, परमात्मा और महापुरुषों के सुकृत-सद्गुण और उच्च जीवन की अनुमोदना भी हो सकती है। परभव में क्या भरोसा, परमात्मा का धर्म प्राप्त होगा या नहीं?

यहाँ अनेक पापों के बावजुद यदि अल्प धर्म भी प्राप्त हो गया, तो वह भी तारक बनेगा। जबकि परभव में धर्म का अंश भी प्राप्त नहीं हुआ और मात्र पापी जीवन मिला, तो वो तारक नहीं बल्कि मारक बनेगा।

आर्य मानवजीवन तो धर्म सुकृत करने हेतु और पूर्व पापों के प्रक्षालन हेतु व नये पापों को रोकने हेतु अनुपम अवसर है।

यह अवसर व्यर्थ गँवा देना उचित नहीं है, इस अवसर को नष्ट नहीं करना चाहिये। अनशन करनेवाले महात्मा जीवन को नष्ट नहीं करते, किन्तु जीवन से अंतिम आराधना कर लेते है। ज्यादातर आराधना ग्रहण करने का प्रयत्न करते है। जबकि आत्महत्या करनेवाला इस महामूल्यवान जीवन को नष्ट कर देता है, अत: वह मूर्खता है।

कामलता भी अपने पापों के कारण जीवनत्याग का निर्णय लेती है। यह कैसी मूर्खता है, इस विषय पर चर्चा की।

कामलता ने उसको पनाह देनेवाली वैश्या को कहा कि, 'मेरे जीवन में भयावह पाप हुए है, अब मैं जीना नहीं चाहती और जलती हुई चिता में जलकर मरना चाहती हूँ, अत: मुझे मरने हेतु सहाय करो।'

वह वैश्या भी उसकी इन बातों से चौंक उठी और सोचने लगी कि, 'अचानक इसको क्या हो गया?' वैश्या कामलता को मरने का विचार छोडने हेतु समझाती है, किन्तु कामलता अपने निर्धार में निश्चल रहती है। अन्य अनेक लोगों ने उसे समझाया, परंतु वह किसीकी बात नहीं सुनती। तब लोग उसकी प्रशंसा करने लगे कि,

'वाह ! इसका पश्चात्ताप भी अत्यंत उत्तम है। वास्तविकता तो यही है कि इन्सान पाप आसानी से कर देता है, किन्तु पाप का पश्चात्ताप करना अत्यंत

कठीन है। फिर भी कामलता का पश्चात्ताप कितना श्रेष्ठ है कि जलकर मरने को तैयार हो गई है। धन्य है कामलता को !' इस प्रकार लोग उसके गुण गाते है।

कामलता चिता के मध्य :

तय हो गया, नगर के बाहर मैदान में काष्ठ की चिता सजाई जाती है। कामलता भी चिता के मध्य में बैठ जाती है, चारों तरफ काष्ठ लगाये गये है। चिनगारी जलाई गई, लोगों के लिये यह दृश्य देखना भी असह्य था, अत: सब तुरंत अपने गृह चले गये।

काष्ठ तो प्रचंड स्वरूप से जलने लगे, किन्तु अग्नि अभी तक भीतर के हिस्से में नहीं पहुँची थी, परंतु अग्नि से पैदा हुई गर्मी पहुँच चुकी थी। शरीर मानो जलने की ही राह देख रहा है, किन्तु कामलता मक्कम बनकर बैठी है, निडर रहती है। उसकी नजरों के सामने शीलभंग, राजा की हत्या, वैश्यावृत्ति और पुत्रगमन आदि भयावह पाप इस तरह दृश्यमान हो रहे है कि अब उस पाप के सामने कामलता को अग्निस्नान करने का दु:ख असह्य नहीं लगता है।

चारों तरफ से प्रचंड अग्नि की गर्मी से जलना दु:ख नहीं? है, मगर पाप के तीव्र पश्चात्ताप में वह दु:खरूप लगता ही नहीं और वहाँ से भाग निकलने का मन ही नहीं होता। यह अग्निस्नान कामलता सहर्ष स्वीकारती है और संपूर्ण जलकर मरने की तैयारी भी रखती है।

तीव्र पश्चात्ताप होने पर गुरु के सन्मुख पाप कहते वक्त मानभंग का या किसी भी प्रकार के प्रायश्चित्त का दु:ख नहीं लगता।

हम हमेशा कहते है कि, 'मेरे से यह दु:ख सहन नहीं होगा या वह दु:ख सहन नहीं होगा' किन्तु कोई महान लाभ मालुम पडते ही वही दु:ख आनंदविभोर बनकर सहन कर लेते है ना?

- शरीर पर सुई की हल्की सी चुभन भी सहन नहीं होती, किन्तु जब डोक्टर इन्जेक्शन देता है और वही सुई हमारी नस तक पहुँचा देता है, तब वह दर्द सहर्ष स्वीकारा जाता है। क्यों? क्योंकि व्याधि समाप्ति का लाभ दिख रहा है।

- किसीके अपशब्द सहन होते है? नहीं, किन्तु जब सेठ उत्तम वेतन देता हो और कभी क्रोधवश अपशब्द बोल दे, अपमान कर दे, तब भी सहन करनेवाले अनेक गुमास्ता नौकर है।

- भूख का दु:ख सहन होता है? किन्तु व्यापार की मौसम हो, खूब ग्राहकी हो, तो व्यापारी सहर्ष भूख को सहन करके भी व्यापार में प्रवृत्त रहते है।

यही सब बातें साबित करती है कि दु:ख सहन ही ना हो, ऐसा नहीं है, पर महान लाभ दिख रहा हो, तो दु:ख को भी सहर्ष स्वीकारा जाता है।

इसी तरह धर्म में महान लाभ देखने पर धर्म के कष्ट दु:खरूप नहीं लगते।

११. प्रतिक्रमण के लाभ

कडी ठंड में कोई कहे कि, 'एक महीने तक प्रात: ४ बजे आ कर मेरे अंगत बेनामी हिसाबों की खातावही लिख देना, आपको हजार रुपये देंगे' तो आप तुरंत वहाँ पहुँच जाओंगे।

हम कहें कि, 'चार नहीं, पाँच बजे पधारना। प्रतिक्रमण करवायेंगे।' तो कितने लोग तैयार होंगे? एक भी नहीं। तब आपको विचार आता है कि, 'दिनभर की थकान रहती है, तो नींद भी सही तरीके से होनी चाहिये। रात को ११ बजे सोते है, तो इस ठंड में सुबह ५ बजे कैसे उठ पायेंगे?'

लेकिन सुबह ४ बजे उठना हो, तब रात को ११ बजे तक बातें नहीं करोंगे, क्योंकि रुपये मिलनेवाले है। प्रतिक्रमण से कोई लाभ नहीं दिख रहा, अत: जल्दी निद्राधीन हो कर जल्दी उठने का मन ही नहीं होता। रात को ११ बजे तक भी बातें करते रहोंगे।

प्रतिक्रमण से क्या क्या लाभ होते है; जानते हो?

जीव दिनभर कितने पाप करता है? :

शास्त्र कहते हैं : जीव को

(१) पाप की अविरति के योग से अर्थात् पाप ना करने की प्रतिज्ञा ना होने से दुनियाभर के पाप की छूट होने के योग से, और

(२) मन-वचन-काया से अनहद पापी विचार, पापवाणी, पाप वर्ताव के योग से,

(३) कभी क्रोध, कभी अभिमान, कभी लोभ-आसक्ति-ममता आदि कषाय प्रज्वलित रहने के योग से, और

(४) दुनिया के अनगिनत पदार्थ और तमाम पदार्थ के अल्पांश पर भी राग होने के योग से...

जीव एक ही दिन और एक ही रात्रि में जो पाप बाँधता है, उसका नाश करने हेतु विशाल पर्वतों के समान सुवर्ण का दान करे, तब भी वह पाप नहीं टूट सकते, किन्तु प्रतिक्रमण से वह पाप टूट सकते है।

दान से धर्म होता है, पुण्य का लाभ मिलता है, किन्तु पाप की माफी नहीं मिलती। प्रतिक्रमण–प्रायश्चित्त से ही पाप की माफी मिलती है।

सोचों, कितना बडा लाभ है प्रतिक्रमण का ! किन्तु वह लाभ नहीं दिखता, तो फिर क्यों करोंगे प्रतिक्रमण? लाभ ना दिखने का कारण क्या? जो पाप बंधन हो रहा है, उसका पश्चात्ताप ही नहीं है; वह हो, तो मन में विचार पैदा होता कि,

'हाय ! एक ही दिन या एक ही रात्रि में अविरति–पापयोग–कषाय और राग–द्वेष से इतने सारे कर्मों का बंधन होता है?'

इस तरह पाप और कर्मबंध का तीव्र पश्चात्ताप हो, तभी प्रतिक्रमण करने का मन आसानी से होता है; क्योंकि प्रतिक्रमण करने से रागादि पाप और अशुभ कर्म नष्ट हो जाते है। अलबत, घनिष्ठ पापकृत्यों के कर्म तोडने हेतु गुरु के सन्मुख आलोचना करके तप आदि प्रायश्चित्त करना पडता है, तभी वह भयावह पापकृत्य से बाँधे गये कर्मों का नाश होता है; किन्तु आलोचना का भाव भी प्रतिक्रमण करनेवालों को आसानी से उत्पन्न होता है; क्योंकि प्रतिक्रमण में उन तमाम दुष्कृत्यों का अंतरमन से संताप–रुदन किया जाता है। सूक्ष्म अनेक पापों का–पापकर्मों का नाश प्रतिक्रमण से होता है।

यह श्रेष्ठ प्रतिक्रमण सुबह ५ बजे उठकर नहीं कर सकते, किन्तु सुबह ४ बजे उठकर कोई लाभप्रदायक नौकरी अवश्य कर सकते हो। कारण क्या है?

क्या ४ बजे उठने में कष्ट नहीं है? बल्कि कडी ठंड में तो ५ के बदले ४ बजे उठकर कार्य करने में तो ज्यादा कष्ट है, किन्तु वहीं मनपसंद लाभ दिखता है और वह कष्ट दु:खरूप नहीं लगता। जबकि प्रतिक्रमण में मनपसंद

लाभ ना दिखने से प्रतिक्रमण हेतु ५ बजे उठना भी कष्टप्रदायक, दुःखरूप, दुष्कर लगता है।

वास्तविकता तो यह है कि दिनभर कितने पाप हो रहे है; उसका एहसास ही नहीं है, एहसास करना भी नहीं है, तो फिर उन पापों का पश्चात्ताप भी कैसे होगा?

जहाँ पाप की ही पहचान नहीं है, पापों का पश्चात्ताप ही नहीं है, वहाँ उन पापों को मिटाने हेतु प्रतिक्रमण- प्रायश्चित्त करने का मन ही नहीं होगा।

ऐसा जीवन तो गैरजिम्मेदाराना ही कहा जायेगा।

पाप का विचार ही नहीं, वह

- आस्तिक का जीवन या नास्तिक का?
- आर्य मनुष्य का जीवन है या अनार्य का?
- मानव का जीवन है या तिर्यंच का?

अनंत अनंत काल से पापमय जीवन की वजह से जीव संसार में भ्रमण कर रहा है। अब यहाँ पुण्य योग से पाप को समझने के संयोग प्राप्त हुए है, तब भी पाप को समझने की तैयारी नहीं है। पापों का विचार ही नहीं कि कितने और कैसे पाप मेरे हाथों से हो रहे है; फिर भविष्य कैसा होगा? क्या मात्र जिनालय जाकर आ जाने से यह साबित होता है कि जीवन निष्पाप है? क्या यह मान लेना है कि देवदर्शन के धर्म से पापों का नाश हो गया है? पाप माफ हो जाते है?

देवदर्शनादि से पुण्य प्राप्त होता है, किन्तु जीवन में स्वच्छंदी बनकर किये जाते पाप माफ नहीं होते।

पाप कितने बढ गये? :

अन्यथा तो कसाई जैसे आत्माओं को भी एश हो जाती। वह आत्मा भी देवदर्शनादि धर्म करेंगे, तो उनके भी पाप माफ हो जायेंगे।

काल विषम है, लोगों में पाप बढ गये है। दिन की शुरुआत होते ही अखबार अनेक समाचार इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि उसे पढकर,

(१) राग-द्वेष प्रचुर मात्रा में होते है,
(२) बेसुमार पापविकल्प पैदा होते है, आर्तध्यान के ही प्रवाह शुरु हो जाते है,
(३) रौद्रध्यान भी उठ सकता है, इतना ही नहीं, बल्कि
(४) लोक जीवन में अनीति-असत्य,
(५) पवित्र आर्यमर्यादा का उल्लंघन,
(६) अभक्ष्य भक्षण,
(७) फैशनपरस्ती,
(८) व्यर्थ और जड पदार्थों की बातें,
(९) जरुरतों का बिनजरूरी बढावा...
आदि पाप बढते ही जा रहे है !

इस काल में पाप से बचना क्यों मुश्किल :

इस विषम काल में पाप से बचना मुश्किल है, क्योंकि

(१) कुछ देखने का जहर,
(२-३) पढने-सुनने का जहर,
(४) असत् संपर्क का संक्रमण,
(५) लोकहेरि अर्थात् लोक में श्रेष्ठ दिखने का लोभ;
आदि का असर होता है। रात्रि होते ही तमाम कार्यों से मुक्त हो कर चार लोग जमा होते है, तो 'जीवन में कौन से पाप लगते है? आज के जीवन में किस प्रकार पाप से कलुषित बना जाता है?' इस प्रकार की चर्चा भाग्य से ही होती है। इन बातों से विपरीत पापकारी बातें ही होगी। दिखना भी वही और सुनना भी वही, फिर पाप से कैसे बच पायेंगे? 'यह पाप है' ऐसा विचार भी नहीं आयेगा।

अहोभाग्य मानना है कि विश्व को जिस पाप का ज्ञान ही नहीं है, उन पापों की पहचान जैनधर्म देता है।

जगत के अन्य धर्म विचार, वाणी या वर्तन के पाप बताते है, किन्तु जैनधर्म उनके बिना भी आत्मा के कुछ परिणाम-स्वभाव से भी पाप का बंधन बताता है।

उदा. आप हिंसा का वर्तन नहीं करते, हिंसात्मक वाणी भी नहीं बोलते, अरे ! हिंसा के विचार भी नहीं करते, किन्तु आत्मा का यह दृढ निर्धार ही नहीं कि, 'मुझे हिंसा बंद' अर्थात् हिंसा से विरति नहीं है, 'हिंसा का त्रिविध त्याग' इस प्रकार प्रतिज्ञा नहीं है; तो वह आत्मा का अविरति का परिणाम, अविरति का स्वभाव कहा जाता है। जिससे प्रचुर पाप बंधन हो सकते है, यह जैनधर्म कहता है।

अत: आप हिंसा का विचार नहीं करते; इतना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु हिंसा के त्याग की प्रतिज्ञा भी आवश्यक है; उस प्रतिज्ञा का अभाव ही अविरति पाप है।

पाप को पाप न मानना, त्याज्य को त्याज्य न मानना, धर्म को धर्म न मानना, वीतराग को देवाधिदेव न मानना, त्यागी साधु को गुरु न मानना; यह मिथ्याभाव है, मिथ्याभाव का पक्षपात है। अभी इस वक्त इस के बारे में कोई विचार ना हो, फिर भी हृदय में बैठे हुए मिथ्याभाव से-उसके पक्षपात से पापबंध चालु रहता है; यह बात जैनधर्म ही बताता है।

नींद में पाप बंधन क्यों? :

गहरी नींद में पापवाणी और वर्तन तो क्या; पाप का विचार भी नहीं होता, फिर भी नींद में पापबंध कैसे? नींद में पापबंध का कारण मिथ्याभाव है, अविरति है। यह पाप जागृत अवस्था में भी कार्यरत है और निद्राधीन होने पर भी कार्यरत है।

जैसे जागृत अवस्था में मिथ्याभाव को स्थगित करके सम्यग्भाव-सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन की प्रवृत्ति नहीं हुई, तो नींद में भी वही मिथ्याभाव कार्यरत रहेगा।

वैसे ही जागृत अवस्था में हिंसादि पापों का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग नहीं किया, विरति नहीं अपनाई, अविरति को बरकरार रखा है, तो नींद में भी वही स्थिति रहेगी, जिससे पापकर्म का बंधन अवश्य होगा।

नींद में भले ही क्रोध और अभिमान नहीं होता, माया या लोभ का विचार भी नहीं, परंतु जागृत अवस्था में उन क्रोधादि कषायों को शांत नहीं किया,

राग-द्वेषादि कषाय के भाव रखे है, तो वह तमाम कषाय नींद में भी अव्यक्त कायम रहेंगे ही। तभी तो स्वप्न आते ही वह तुरंत याद आ जाता है।

इस प्रकार मिथ्याभाव आदि पापों के वक्त पाप का कोई विचार ना भी हो, तब भी पापकर्मों का बंध होता है। जैनधर्म यही बारीकी का ज्ञान प्रदान करता है।

आपको विचार होगा :

प्रश्न : पाप का विचार भी नहीं किया, तो प्रतिज्ञा नहीं ली, इतनी-सी बात में पापकर्म का बंधन क्यों होता है?

उत्तर : पाप का बंधन होता है, क्योंकि जीव ने पाप-त्याग की प्रतिज्ञा ग्रहण नहीं की है, जिसका अर्थ यह होता है कि उसके मन में कहीं ना कहीं पाप की अपेक्षा विद्यमान है। उदा.

- सुबह विचार किया कि, 'आज उपवास करना है, किन्तु पच्चक्खाण (प्रतिज्ञा) नहीं ली, क्योंकि शायद मध्याह्न काल में ज्यादा भूख लग गई तो? भूख की पीडा ना हुई, तो उपवास कर लूँगा।' अब इस विचार में गर्भित क्या है? यही ना कि, 'भूख लगने पर भोजन कर लूँगा' अर्थात् मन में तो आहार की अपेक्षा है ही। भले ही वह जीव भोजन नहीं करता, किन्तु भोजन करने की जो अपेक्षा विद्यमान है, वह भी पापरूप है।
- इसी प्रकार, जमीनकन्द नहीं खाता, परंतु 'नियम लेने पर टूट गया तो?' इस भय से वह जीव जमीनकन्द के त्याग का नियम ही नहीं लेता। उसके मन में भी यह विचार है कि, 'शायद संजोगवश होकर जमीनकन्द खाना भी पड सकता है।' इस प्रकार मन में कहीं ना कहीं जमीनकन्द खाने की अपेक्षा का रहना ही पापरूप है। अत: कर्म बंधन होते ही है।

जैनशासन तो यह कहता है :

(१) पाप को कर्तव्य मानने का मिथ्याभाव भी पाप है,
(२) मन में पाप का अपेक्षाभाव रखना भी पाप है,
(३) पाप के विषय में राग-द्वेषादि भी पाप है और
(४) पाप का आचरण अर्थात् विचारणा-वाणी-वर्तन भी पाप ही है।

तमाम पाप तीन प्रकार से :

यह पापाचरण भी कमाल का है। स्वयं करने द्वारा, अन्य से करवाने द्वारा या कोई कर रहा हो उसमें संमति-अनुमोदन स्वरूप हो सकता है। अर्थात्? स्वयं पाप करना तो पापाचरण है ही, किन्तु अन्य के द्वारा करवाना भी आपका पापाचरण है और कोई पाप कर रहा हो उसे सही मानना, संमत होना, उसमें आनंद व्यक्त करना भी आपका पापाचरण है।

उदा.

(i) आपका आपके भाई के साथ विवाद हुआ, कलह हुआ वह पापाचरण है।

(ii) वैसे ही किसीके मन में बातें भरकर उसके ही भाई से उसका कलह करवाना भी पापाचरण है और

(iii) आपको किसीके प्रति दुर्भाव था, उसी व्यक्ति के साथ उसके भाई का विवाद हुआ, तब आपको जिसके प्रति दुर्भाव था, वह व्यक्ति परेशान हो जाता है, हार जाता है, वह देखकर आप मन में प्रसन्न होते हो कि, 'अच्छा हुआ ! उसके भाई ने उसे सही सबक सिखा दिया।' तो इस प्रकार अन्य के विवाद में प्रसन्न होना भी कलहपाप के अनुमोदन स्वरूप पापाचरण है।

साधु के लिये कहा गया है कि, 'गृहस्थ के द्वारा साधु के निमित्त से ही बनाया गया आहार साधु ग्रहण नहीं कर सकते।' सवाल होगा कि साधु ने स्वयं नहीं कहा या किसीके द्वारा नहीं कहलवाया कि, 'हमारे लिये आहार बनायें।'

गृहस्थ ने साधु भगवंत को वोहरा के लाभ ग्रहण करने की स्व-भावना से ही आहार बनाया है, फिर भी साधु क्यों वह आहार ग्रहण नहीं कर सकते? कारण यही है कि गृहस्थ के द्वारा बनाये गये आहार में जो अग्निकाय-अप्काय आदि अनेक जीवों का हिंसामय आरंभ-समारंभ हुआ, उसके आनंद-अनुमोदन का पाप भी लगता है। वह आहार साधु ग्रहण करें, तो गृहस्थ ने साधु के निमित्त से किये हुए आरंभ-समारंभ में संमति मिल जाती है। प्रश्न होगा,

गृहस्थ ने स्वअर्थ से बनाये भोजन को साधु ग्रहण करें, तब हिंसा में संमति क्यों नहीं? :

प्रश्न : गृहस्थ स्वयं के हेतु आरंभ-समारंभ करके भोजन बनाते है और वही भोजन साधु ग्रहण करते है, तब उन आरंभ-समारंभ में संमति मिलेगी या नहीं?

उत्तर : नहीं, क्योंकि साधु को अहिंसा का व्रत है कि, 'मेरे निमित्त से मैं स्वयं आरंभ-समारंभ नहीं करूँगा, मेरा निमित्त रखकर अन्य से करवाना नहीं और मेरे निमित्त से कोई करे उसमें संमति प्रदान करना नहीं।' अत: गृहस्थ स्वयं के निमित्त से कोई आरंभ-समारंभ करें, उसे ग्रहण करते समय साधु की संमति नहीं जुडती, उनके व्रत को कोई आँच नहीं आती। सवाल होगा कि,

प्रश्न : तो क्या साधु को अन्य के निमित्त से हिंसा करना-करवाना-अनुमोदना की छूट है?

उत्तर : नहीं, उसके त्याग की भी प्रतिज्ञा है। अत: साधु अन्य के निमित्त से भी हिंसा नहीं करते, नहीं करवाते और अन्य के द्वारा की जाती हिंसा की अनुमोदना भी नहीं करते। अर्थात् गृहस्थ ने स्वयं के हेतु बनाये भोजन को ग्रहण तो करते है, किन्तु यह सोचकर प्रसन्न नहीं होते कि, 'अच्छा हुआ, इसने स्वयं के लिये भोजन बनाया, तो हमें निर्दोष भोजन प्राप्त हो गया।'

यहाँ निर्दोष प्राप्त होने के विचार में, 'निर्दोषता' की खुशी उचित है, किन्तु 'गृहस्थ ने भोजन बनाया' की खुशी नहीं है, ऐसी खुशी का विचार भी अनुचित है; यह भेद समझ लेना जरुरी है।

जैनधर्म की सूक्ष्मता :

'निर्दोषता' अर्थात् साधु के निमित्त से कुछ बनाना आदि दोष ना लगे हो; यह गुण है। यह निषेधात्मक गुण है, विधेयात्मक नहीं। अत: इस गुण में किसके निमित्त से बनाया गया है; इस बात से कोई निस्बत नहीं है, किन्तु साधु के निमित्त से नहीं बनना चाहिये; यही बात है, यही नकारात्मक हकीकत से संबंध है। अत: साधु ऐसा निर्दोष ग्रहण करे, तो उसमें 'साधु के निमित्त से

नहीं बनाने' की हकीकत तक ही साधु की अनुमोदना कही जाती है, किन्तु गृहस्थ ने स्वयं के निमित्त से बनाने की अनुमोदना नहीं कह सकते।

बात यही है कि जैनधर्म का तत्त्व कितना गहन है ! साधु स्वयं के निमित्त से बनाया हुआ ग्रहण करें, उसमें हिंसापाप की अनुमोदना है, फिर भले ही स्वयं मन को मनाये कि, 'मैं उस भोजन के आरंभ-समारंभ को प्रिय नहीं मानता।'

जैनधर्म तो यही कहता है कि भले ही आप उस भोजन बनाने में की गई हिंसा को प्रिय ना मानो, परंतु आप आपके निमित्त से बना हुआ भोजन ग्रहण ही क्यों करते हो? उसका उपयोग ही क्यों करते हो? उपयोग करते हो, इस बात से यही साबित होता है कि आप के मन में इस प्रकार के दोष हेतु कोई आपत्ति नहीं है, आपकी संमति है।

हिंसापाप की यह संमति-अनुमोदना भी पापाचरण है। यही जैनधर्म की सूक्ष्मता और विवेक है।

बौद्ध क्या मानते है? :

बौद्धधर्म में माना जाता है : 'स्वयं जीवहिंसा नहीं कर सकते, किन्तु किसी अन्य ने मार दिया हो, तो उसका भक्षण कर सकते है। जैसेकि कसाई के द्वारा मारे गये पशु का माँस भक्षण कर सकते है, मछुआरे द्वारा पकडी गई मछली का भक्षण कर सकते है; उसमें हिंसापाप नहीं लगता।'

अरे ! यह तो सोचों कि उन माँस-मछली आदि के ग्राहक ही ना हो, तो वह लोग भी क्यों यह जीवहिंसा करेंगे? आप ग्रहण करते हो, तभी वह उन जीवों की हिंसा करता है। इस प्रकार आपने स्वयं हिंसा नहीं की, परंतु मृतक जीवों की खरीदी करने पर हिंसा को बढावा दे ही रहे हो, हिंसा करने पर अनुमोदना का पाप तो है ही। वह अनुमोदना भी पापाचरण ही हुआ।

इस प्रकार बौद्धधर्म में पंचेन्द्रिय जीवहिंसा की अनुमोदना का भी विवेक नहीं है, अत: उसे पापाचरण नहीं माना जाता, तो फिर एकेन्द्रिय जीव की हिंसा की अनुमोदना को पापाचरण समझने का तो सवाल ही नहीं होता।

जैनधर्म की श्रेष्ठता : पापाचरण की सीमा :

जैनधर्म की यह सूक्ष्मता है, विवेक है, यही श्रेष्ठता और सज्ञानदशा है कि एकेन्द्रिय जीव की हिंसा स्वयं करना तो पापाचरण है ही, किन्तु अन्य से करवाना भी पापाचरण है, आगे बढकर यहाँ तक कि साधु स्वयं के लिये अग्नि-जल-वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव की हिंसा द्वारा बनाई हुई चीज ग्रहण करें-उपयोग करें, तो वह भी हिंसा की अनुमोदना का पापाचरण ही है।

जैनधर्म की यह श्रेष्ठता समझने पर एहसास होगा कि, 'जैनधर्म ही शुद्ध धर्म है।' उस पर अत्यंत अहोभाव होता है। मन में भाव होते है कि, 'वाह ! मुझे यह वास्तविक, सत्य, सूक्ष्म और शुद्ध धर्म प्राप्त हुआ है। मेरे अहोभाग्य ! कैसा शुद्ध जैनधर्म ! जैनधर्म में बताये गये कैसे सुंदर शुद्ध वास्तविक तत्त्व और सही मोक्षमार्ग !' जब मन में यह स्थिति बनती है, तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

जब तक, हिंसादि पापाचरण की सीमा कहाँ तक पहुँचती है; यह सूक्ष्मता का ज्ञान नहीं हुआ, तब तक उसका त्याग करने की बात भी कैसे सार्थक होगी? और जब तक अल्प से अल्प पापाचरण का त्याग भी ना हो, तब तक मोक्षप्राप्ति की बात भी कैसे सार्थक होगी? कुछ लोग कहते है :

प्रश्न : क्या जैनधर्म से ही मोक्ष प्राप्त होता है? अन्य धर्म से नहीं?

उत्तर : अरे ! अगर अन्य धर्म से मोक्ष होता है, तो हमारे ना कहने पर भी वह रुक नहीं जायेगा। कहने का तात्पर्य यही है कि यदि सूक्ष्म पापाचरण के साथ भी मोक्ष प्राप्त हो रहा है, तो किसी भी धर्म से हो। यदि इस प्रकार मोक्ष नहीं होता हो, तो फिर पूरे विश्व में देख लों कि क्या जैनधर्म के अलावा कोई धर्म है; जहाँ एकेन्द्रिय जीवहिंसा की अनुमोदना को भी पापाचरण बताया गया है? और किसने उसके त्याग की सही रीत बताई है? यदि बताई है, तो वहाँ से भी मोक्ष प्राप्ति हो सकती है, उसमें जैनधर्म कोई निषेध नहीं करता।

वास्तविकता तो यह है कि अन्य धर्म में एकेन्द्रिय जीव क्या है? इसकी पूर्ण समझ ही नहीं है। उनके पास यह जीवविज्ञान ही नहीं है, तो फिर उन जीवों की अहिंसा पालन करने की बात ही कहाँ से होगी?

जीवों का विज्ञान : एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के विभाग अनुसार और उसके अवांतर समस्त प्रकारों की पहचान तो जैनधर्म की खूबी है, अनूठी विशेषता है। उसकी तुलना में अन्य कोई भी धर्म नहीं टिक सकता, क्योंकि अन्य किसी भी धर्म में यह जीवविज्ञान है ही नहीं, जीवों की यह पहचान ही नहीं है।

इन्द्रभूति जैन चारित्र से क्यों प्रभावित हो गये? :

इन्द्रभूति आदि विद्वान ब्राह्मण यज्ञ और वेद का त्याग करके श्री महावीर स्वामी भगवंत के चरणों में झूक गये। उन्होंने देखा कि उन्होंने यज्ञ-याग को धर्म मानकर समय सिर्फ व्यर्थता में गँवाया है।

जब तक एकेन्द्रिय जीवों के हिंसास्वरूप पापाचरण का त्याग नहीं होता, उन जीवों की हिंसानुमोदना तक का और अविरति का पापाचरण नहीं छोडा जाता, तब तक मोक्ष कैसे प्राप्त होगा? और मोक्षप्रदायक धर्म भी कैसे प्राप्त होगा?

सूक्ष्मता का यह धर्म वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा के सिवाय अन्य कोई नहीं बता सकता। यह धर्म बतानेवाले का मिलन होने के बाद षट्काय जीवों के संहारमय जीवन को ही क्यों अपनाये रखना है? अब यदि मोक्ष की कामना है, तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा का त्याग और उसी प्रकार के अन्य तमाम पापों का त्यागमय जीवन क्यों ग्रहण ना करें?

अच्छी हवा चल रही है, यह विचार भी पापाचरण कैसे? :

जैनधर्म की एक विशेषता : सूक्ष्म अहिंसा का पालन। देखों, कितना गहन पालन दिखाया कि, उदा. गर्मी की ऋतु में हल्की-सी ठंडी हवा आने पर भी मन में यह विचार नहीं होना चाहिये कि, 'वाह ! अच्छी हवा चल रही है।' क्यों यह विचार नहीं कर सकते?

क्योंकि, उस विचार में भी वायुकाय के जीवों की हिंसा में अनुमोदना जुड जाती है। 'अच्छी ठंडी हवा चल रही है।' यह विचार कब होगा? जब शरीर से हवा का स्पर्श होगा तब। अत: अच्छी ठंडी हवा आई, इसमें यह गर्भित है कि, 'यह ठंडी हवा का स्पर्श हुआ इसका आनंद है।'

अर्थात् वायुकाय के जीव इतने सूक्ष्म और सुकोमल है कि हमारे शरीर का स्पर्श होते ही उनकी मृत्यु होती है, अत: ठंडी हवा के जीवों का हमारे शरीर से स्पर्श होता है और उनका जीवन समाप्त होता है; इस बात का आनंद हम व्यक्त कर रहे है। इस प्रकार वायुकाय के असंख्य जीवों की हिंसा में अनुमोदना पैदा हुई, यह भी पापाचरण है।

अब यह भी चिंतन करना है कि, 'ठंडी हवा बह रही है, यह विचार करना भी हिंसापाप का आचरण है' यह बात जैनधर्म के अलावा अन्य कौन सा धर्म बताता है? शायद उसमें विषयराग का पाप कह देगा, किन्तु हिंसा का पाप कौन बता रहा है?

वैसे ही, 'अच्छी गर्म चाय प्राप्त हुई' इस प्रकार मन को आनंद होता है, तो अग्निकाय के जीवों की हिंसा में आनंद-अनुमोदना अर्थात् हिंसा का पापाचरण कौन सा धर्म बता रहा है? यह बात मात्र जैनधर्म ही कहता है।

जैनधर्म चारित्र को तलवार की धार क्यों कहता है? :

इसका एक कारण यह भी है कि, उदा. चारित्रजीवन में यह खुशी भी नहीं मना सकते कि, 'अच्छी ठंडी हवा चल रही है,' क्योंकि उस विचार में भी असंख्य वायुकाय जीवहिंसा की अनुमोदना है।

वैसे ही यह खुशी भी नहीं मना सकते कि, 'गोचरी अच्छी गरमागरम प्राप्त हो गई, चाय अच्छी गर्म प्राप्त हो गई,' क्योंकि चारित्रजीवन में 'एकेन्द्रिय जीवों की भी हिंसा नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा और करनेवाले को सही नहीं मानूँगा' यह प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है। अत: गर्म चाय आदि प्राप्त करने का आनंद व्यक्त करते समय अग्निकाय के जीवों की हिंसा को सही मानने का कार्य होता है। इस विचार में प्रतिज्ञा का भंग होता है।

तो सोचिये, चारित्र में मन को किस हद तक सावधान रखना पडता है। मन तो चंचल है और मन को अनंत काल के विषय-आनंद का अभ्यास है, अत: मजबूत सावधानी ना बरतने पर मन में अनेक विचार उत्पन्न हो सकते है। इस प्रकार अनेक बातें है, जिनका पालन प्रचुर जागृति और पुरुषार्थ के

आधार पर ही संभव है। अत: शुद्ध चारित्र का पालन तलवार की धार पर चलने जैसा कठीन है।

जैनधर्म में गृहस्थ को भी एकेन्द्रिय की हिंसा में क्या दिक्कत? :

यह समझने की भूल ना करना कि, 'चाय या भोजन गर्म मिला; यह आनंद व्यक्त करना मात्र साधु के लिये वर्जित है, गृहस्थ के लिये नहीं, क्योंकि गृहस्थ को एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा के त्याग का व्रत नहीं, व्रत होता तो उसे तोडने के स्वरूप समस्या होती ना?' यह समझ योग्य नहीं है। क्योंकि गृहस्थ श्रावक को भले ही व्रतभंग स्वरूप दोष ना लगे, किन्तु दयाभंग का दोष तो अवश्य लगता ही है।

श्रावक को एकेन्द्रिय जीवों की अहिंसा का व्रत नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं है कि हृदय में उन जीवों के प्रति दयाभाव भी ना रखे!

संसारत्याग का मन क्यों? :

श्रावक को घरसंसार-व्यापार आदि के माध्यम से एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर अत्यंत दु:ख रहता है, चिंतामग्न हो कर श्रावक यही सोचता है कि, 'अरे ! यह निर्दोष जीव; जिन्होंने मेरा कोई नुकसान नहीं किया, उन्हें मैं क्यों मार रहा हूँ? उन मासुम जीवों को मेरी तरफ से कब तक यह मृत्युपर्यंत दु:ख सहन करने पडेंगे?'

मन में उन जीवों के लिये इस प्रकार करुणा-दया-आर्द्रता की भावना रहती है। तभी तो श्रावक को हिंसात्मक संसार के त्याग की भावना रहती है, संसार में रहना विष के समान लगता है।

आप संसार में चिंतामुक्त हो कर बैठे हो ना? चार पैसे कमा लिये, उत्तम स्त्री की प्राप्ति हुई, संतान भी उत्तम है, व्यापार भी सही चल रहा है, फिर भी संसार दु:ख-दर्दरूप लगता है? संसार विष के समान लगता है? क्या प्रतिदिन मन में विचार आता है कि, 'कब तक इस पापसंसार का वहन करना पडेगा?'

नहीं, मन में यह विचार नहीं होता, क्योंकि संसार में असंख्य-असंख्य एकेन्द्रिय जीवों की हो रही हत्या के प्रति कोई कंपन ही नहीं है, उन जीवों के प्रति मन में दया की भावना ही पैदा नहीं होती है।

यदि एकेन्द्रिय जीवों पर दयाभाव प्रगट हो जाये, तो उन जीवों की हत्या पर आधारित संसार विष के समान लगेगा। धृणास्पद लगेगा, शीतल नहीं; किन्तु दाहप्रदायक लगेगा।

बारह व्रत की पूजा में पौषधव्रत की पूजा में आप क्या बोलते हो? : **'शीतल नहीं छाया रे आ संसारनी।'**

संसार की छाया, संसार में बसना शीतल नहीं, किन्तु झुलसानेवाला है। गर्मी के दिनों में पेड की छाया शीतल है, किन्तु मकान के उपरी माले में तेज गर्मी से तपनेवाले गरम पतरे की नीचे की छाया कैसी होती है? वैसी जलती छाया को छोडकर नीचे के माले में चले जाने का मन हो जाता है।

बस, संसार की छाया भी ऐसी गर्म तपतपायमान पतरों की तपती छाया के समान है। कारण? उसमें एकेन्द्रिय जीवों पर भी श्रावक को दया है, मैत्रीभाव है। उन जीवों की हिंसा करनी पड रही है।

अब समझ पाओंगे कि, श्रावक के मन में यही दया होती है, अत: श्रावक भी उत्तम गरमागरम भोजन प्राप्त होने पर यही विचार करते है कि, 'यदि मेरे मन में अग्निकाय जीवों के प्रति करुणा है, तो उनकी हिंसा के द्वारा बने गरमागरम भोजन प्राप्त होने पर खुशी क्यों जतायें?'

अब सोचों, जैनधर्म के अलावा यह सूक्ष्म और विस्तृत दया-अहिंसा का कथन कौन बता सकता है?

तो पूर्ण दया-अहिंसा के बिना अन्य धर्म में मोक्ष भी कैसे संभव है?

वास्तविक मैत्रीभाव क्या है? :

सर्व जीवों के प्रति मैत्रीभाव बोलना आसान है, किन्तु वास्तविकता में उसका आचरण कठीन है, क्योंकि सर्व जीव में एकेन्द्रिय जीव की भी गणना होती

है और अगर उन जीवों पर भी मैत्रीभाव है, तो यह दया अवश्य होगी कि उन जीवों की हिंसा के समय हृदय द्रवित हो उठे।

एकेन्द्रिय जीवों को मित्र मानने के बाद उनके प्राणांत के वक्त खुशी कैसे हो सकती है? उनकी हिंसा से बन रहे पदार्थों के प्राप्त होने पर, उपयोग करने पर खुशी कैसे मना सकते है?

जैनधर्म का महान उपकार है कि,

- मैत्रीभाव-अहिंसा-दया और जीव व पाप आदि की ऐसी सूक्ष्मता समझाई है !
- हमें व्यापक दयाभाव और उत्तम दयापालन का मार्ग बताया है, और
- हिंसाजन्य वस्तु में भी दयाभाव को गँवाकर व्यर्थ खुशी-प्रमोद का वर्तन ना हो; इस हेतु विवेक प्रदान किया है।

(१-२) एकेन्द्रिय आदि जीवों की पहचान, और 'अच्छी गर्म चाय प्राप्त हुई,' 'मस्त ठंडी हवा चल रही है,' इस प्रकार खुशी मनाने में हिंसापाप के अनुमोदनरूप पापाचरण, यह तो जैनधर्म की एक-दो विशेषता हुई; अन्य अनेक अत्यधिक विशेषताएँ भी है।

(३-४) स्याद्वाद-अनेकांतवाद-नयवाद; यह जैनधर्म की विशेषता है।

नयवाद अर्थात् व्यवहारनय-निश्चयनय, ज्ञाननय-क्रियानय, शब्दनय-अर्थनय, द्रव्यनय-पर्यायनय, यह जैनधर्म की विशेषता है। स्याद्वाद-नयवाद पर भी गहन चिंतन है।

(५) कर्मविज्ञान भी जैनधर्म की ही विशेषता है।

ज्ञानावरणीयादि अष्टकर्म, उनके उत्तर भेद, उनके बंध-उदय-उदीरणा-संक्रमण-उद्वर्तना-अपवर्तना-उपशमना-क्षपणा आदि, और उन बंध-उदय इत्यादि में प्रकृति-स्थिति-रस-प्रदेश; यह तमाम पदार्थ इस विश्व में मात्र जैनधर्म में बताये गये है।

(६) मिथ्यात्वादि १४ गुणस्थानक का वास्तविक उन्नतिक्रम भी जैनधर्म की ही विशेषता है।

(७) १४ राजलोक में उर्ध्व-अधो-मध्यलोक का विस्तृत यथास्थित स्वरूप भी मात्र जैनधर्म में ही बताया गया है।

(८) जीव-अजीव आदि नौ तत्त्व का भव्य स्वरूप जैनधर्म की श्रेष्ठ विशेषता है।

(९) सम्यग्दर्शन का उत्तम महत्त्व भी जैनधर्म में ही पाया जाता है।

(१०) विरतिमार्ग का भी विशिष्ट महत्त्व जैनधर्म की पहचान है। पाप ना करते हुए भी यदि पापत्याग की प्रतिज्ञा नहीं है, तो अविरति का पाप लगता ही है; यह रहस्य भी जैनधर्म में ही बताया गया है।

(११) परमात्मा का यथार्थ स्वरूप भी जैनधर्म में ही बताया गया है।

परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ ही होते है, उनके जैसे बनने हेतु सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की कठोर साधना आवश्यक है। यह साधना करने के पश्चात् वीतराग अनंतज्ञानी परमात्मा बनने के बाद, उन्हें ध्यान आदि की साधना करने की जरुरत नहीं होती, स्वयं कृतकृत्य होने के बावजुद अलिप्त भाव से जगत को तत्त्वदर्शन करवाते है। इस प्रकार परमात्मा का यथार्थ स्वरूप जैनधर्म में ही प्राप्त होता है। उन परमात्मा की पहचान करवाना; यह मात्र जैनधर्म की विशेषता है।

(१२) मुनिधर्म में समिति-गुप्ति, ब्रह्मचर्य की नौ वाड, ४२ दोष रहित गोचरी-भिक्षा, प्रतिक्रमणविधि आदि जैनधर्म की विशेषता है। अहिंसा का पोषण करनेवाली ऐसी सूक्ष्म और विवेक से भरपूर चर्या जगत के अन्य किसी भी धर्म में नहीं है।

(१३) गृहस्थ को परमात्मभक्ति का विवेकपूर्ण विस्तार, जैसेकि मंदिर में जाना हो, तो स्वयं भोजन-पेय के कोई भी पदार्थ मंदिर के अंदर नहीं ले जाना, प्रभु की भक्ति में प्रदान करने योग्य कोई वस्तु लिये बिना ही

चले जाने पर विनयभंग होता है। मंदिर में तीन स्थान पर तीन निसीहि बोलना, अष्टप्रकारी पूजा में तमाम पूजा के आध्यात्मिक हेतु... आदि तमाम जैनधर्म की ही विशेषता है।

(१४) यावत् श्रावक को भी विवेक और सूक्ष्मता से भरपूर १२ व्रत, प्रतिज्ञाबद्ध सामायिक-पौषध, प्रतिदिन १४ नियम इत्यादि तमाम साधना भी जैनधर्म में ही प्राप्त होती है; जगत के अन्य किसी धर्म में नहीं मिलती।

जैनधर्म की अनेक विशेषता है, जो अन्य स्थानों पर नहीं है। उन तमाम विशेषताओं का वर्णन करते-करते कई दिवस और कई महीने लग सकते है, कई साल लग सकते है।

हमारी बात यही थी कि प्रतिक्रमण का यह महत्त्व है कि गृहस्थ को दिनभर अविरति-मिथ्याभाव-राग-द्वेष आदि के योग से जो भी अनेक पाप लगते है, वह मेरु पर्वत के बराबर सुवर्ण दान से भी नष्ट नहीं हो सकते, किन्तु प्रतिक्रमण से नष्ट हो सकते है। परंतु प्रथम यह सोचना है कि क्या पापों का अफसोस है?

दिनभर के उन बेसुमार पापों का पश्चात्ताप होता है, तो राई-देवसी प्रतिक्रमण में क्या इतना कष्ट है कि प्रतिक्रमण करके उन महापापों को खत्म ना किया जाय?

१२. कामलता का बचाव

कामलता का बचाव : चरवाहे के हाथ में :

कामलता को अपने पापों का इस हद तक पश्चात्ताप होता है कि वह जलती हुई चिता के मध्य अग्निस्नान करने बैठ गई है। उसके आसपास फैल रही अग्निज्वालाओं की गर्मी से वह भी धीरे-धीरे जलकर मरने की तरफ बढ रही है। मृत्यु का उसने दृढ निर्धार कर लिया है, इसलिए कामलता की यही कामना है कि, 'कब यह पापी शरीर अग्नि से जलकर भस्म बन जाये?'

वहीं अचानक मूशलधार वर्षा हुई और चिता तो बुझ गई, परंतु पानी का प्रवाह इस हद तक बढ गया कि कामलता ब्राह्मणी मूर्छित हो गई और पानी के बहाव में बहने लगी। वह पानी में बह रही थी कि तभी किसी चरवाहे ने उसे देखा और पानी में कूदकर उसे बाहर निकाला।

बाहर निकालकर उसे उलटा करके शरीर से पानी निकाला और अग्नि से ताप दिया। कामलता को होश आया। होश में आते ही अवाचक् हो कर सोचने लगी कि, 'यह क्या हो गया? अग्नि की चिता कहाँ है? मैं तो अग्नि में थी, तो जलकर मरने के बदले यहाँ कैसे पहुँच गई?...'

वह इन सब विचारों में डूबी है, तभी वह चरवाहा उसे पूछता है : 'बहन ! तुम कहाँ रहती हो? और पानी में कैसे बह गई?'

भले ही चरवाहा उसे 'बहन' कहकर पुकारता है, किन्तु कामलता के भीगे वस्त्र में उसके शरीर का सौंदर्य देखकर और स्वयं उसका स्पर्श करके, उसे उठाकर बाहर ले कर आया है, अत: उसके मुलायम कोमल देह का स्पर्श करके कामातुर हुआ है। वह भी युवान था और योगी-सन्यासी तो नहीं था जो उसे वासना विकार ना हो। और योगी-सन्यासी हो; तब भी क्या?

युवान सुंदर सुकोमल स्त्री के दर्शन अयोग्य, स्पर्श तो विशेष अयोग्य; वह योगी-सन्यासी को भी कमजोर बना देते है।

पाराशर ऋषि का प्रसंग :

पाराशर ऋषि की बात जानते हो? इतर धर्म की बात है।

श्री व्यास ने महाभारत की रचना की, वह ग्रंथ उन्होंने पाराशर ऋषि को दिखाया। ग्रंथ में लिखा था कि, '**बलवानिन्द्रयग्रामः, पण्डितानपि पीडयेत्।**'

अर्थात् इन्द्रियों का समूह ऐसा बलवान है कि विद्वान को भी परेशान कर देता है।'

पाराशर ऋषि व्यास को कहते है : 'इस वाक्य को रद करें, क्योंकि विद्वान को यदि इन्द्रिय विचलित कर सकती है तो वह विद्वान नहीं हो सकता। शास्त्रज्ञ विद्वान को यह तो ज्ञात होता ही है कि इन्द्रियों को वश में ना रखा तो वह नरक में ले जायेगी। अतः विद्वान इन्द्रियों को बेकाबू नहीं होने देगा, फलतः इन्द्रियों से विचलित होने का भय ही नहीं रहेगा। विद्वान तो इन्द्रिय पर अंकुश रखता ही है, तो फिर इन्द्रियाँ उसे परेशान नहीं कर सकती। अतः यह वाक्य ही रद कर दे।'

व्यास कहते है : 'आप कुछ समय विचार करें, मैं भी कुछ समय विचार कर लेता हूँ। फिर आवश्यकता होने पर यह वाक्य रद कर देंगे।'

पाराशर कहते है : 'मुझे कोई विचार ही नहीं करना। फिर भी आप कहते है तो विचार करता हूँ, किन्तु याद रखना : वाक्य तो रद करना ही पडेगा।'

व्यास युवती का रूप धारण करते है :

पाराशर को यह ज्ञात नहीं है कि व्यास कोई चमत्कार कर रहे है। वह तो यही समझते है कि, 'व्यास को ही विचार करना पडेगा, मुझे तो कोई विचार करना ही नहीं। तो व्यास को विचार करना हो, तो भले करे।' यह पाराशर की समझ है।

किन्तु व्यास ने स्वविद्या के बल से अप्सरा जैसी नवयुवान सुंदर नाजुक काया की स्त्री का रूप धारण किया, रेशमी वस्त्र धारण किये और वन में पाराशर

ऋषि की कुटीर से कुछ दूरी पर चिाने लगी कि, 'हाय ! हाय रे ! मर गई, कोई मुझे बचाओ।'

ऋषि करुण चीखें सुनकर अपना ध्यान छोडकर कुटीर से बाहर निकल आये। आवाज आ रही थी, उस दिशा में गये और देखा की एक स्त्री वर्षा में भीगती हुई जमीन पर गिरी हुई है और रो रही है। ऋषि दयालु थे, करुण रुदन देखकर पीघल गये और वहाँ जा कर पूछते है : 'देवी ! आप कौन हो? यहाँ कैसे आ पहुँचे? आपको क्या भय है?'

स्त्री का नाटक :

स्त्री बोली : 'मैं राजकन्या हूँ, मेरा विवाह उत्तम राजकुमार के साथ हुआ था। मेरे पति के साथ ससुराल ही जा रही थी कि हम मार्ग से भटक गये और इस वन में आ गये। वहीं अचानक एक शेर आया और मेरे पति को उठा ले गया। मेरे पति को बचाईये ! हाय हाय रे ! ओ...' इस प्रकार वह स्त्री अत्यंत रुदन करने लगी।

ऋषि को तो ज्ञात ही नहीं था कि यह सब मात्र छलावा है। वह तो उस स्त्री की बातों को ही सत्य मानकर उसको आश्वासन दे रहे है कि : 'अब रोने से कोई फायदा नहीं है। भाग्य की लीला कोई नहीं समझ सकता कि वह कब क्या खैल खैलता है। यहाँ तेज बारीश हो रही है और तु भी ठंड से काँप रही है। चल, कुछ समय इस कुटीर में बैठ। वर्षा थम जाये, फिर मैं तुझे सही मार्ग तक ले जाऊँगा। और अभी तो तुम्हारे पति के लिये हो भी क्या सकता है?'

'भाग्य की कोई जानकारी नहीं मिल सकती और अचानक ही कोई आफत आ पडती है। इस संसार की माया भी ऐसी ही ठग है। अब हिंमत रखकर समयसूचकता का उपयोग कर।'

स्त्री भी रोते हुए बोलती है : 'हाय ! हाय ! तो क्या अब मुझे मेरे पति नहीं मिलेंगे? हाय रे ! मेरा तो भाग्य ही फूट गया।'

ऋषि पुनः आश्वासन देते है : 'चल, अब कुटीर के भीतर चल, अन्यथा तुझे ज्यादा ठंड लगेगी।'

स्त्री काँपती हुई बोलती है : 'परंतु मेरे पाँव ही कार्य नहीं कर रहे। शरीर में अशक्ति भी फैल रही है। मेरे से उठ पाना मुश्किल हो रहा है। अब मैं क्या करूँ? अब तो मौत ही मेरा इलाज है।'

ऋषि स्त्री को पकडकर सहारा देते है ! : फिसल गये :

ऋषि उस स्त्री के नखरों में फँस गये, अब क्या कर पायेंगे? वैसे भी उसके भीगे हुए वस्त्रों से उसका गोरा बदन दिख ही रहा है, वह देखकर ऋषि के मन में हल्का सा राग पैदा हो ही गया है और अब उसके नखरों को सत्य मानकर दयाभाव पैदा हो जाता है। अत: बोलते है : 'चल, मैं तुझे सहारा दे रहा हूँ, अब उठ जाओ।'

इस प्रकार ऋषि एक हाथ से उसका हाथ पकडते है और दूसरा हाथ उसकी पीठ के नीचे रखकर उसे प्रथम बिठाते है, फिर उठाते है। देखते है कि उसका शरीर काँप रहा है, तो वह पुन: नीचे गिर ना जाये इसलिए उसे पकडकर कुटीर में ले आते है और आराम करवाते है।

'बलवान् इन्द्रियग्राम:।' इन्द्रियों का समुह प्रबल है, उसके आगे आत्मा निर्बल, अत: इन्द्रियाँ आत्मा पर वर्चस्व जमा देती है।

यहाँ ऋषि ने भी स्त्री के भीगे वस्त्र में से उसके अंगोपांग देखे और उसे पकडकर कुटीर तक ले कर आये, जिससे उसका अति सुकोमल स्पर्श भी प्राप्त हुआ; फिर तो क्या बाकी रहना था?

अंतरमन में ऋषि को भी अल्प सरागी विकार जागृत होने लगे, किन्तु आखिरकार तो स्वयं ऋषि है, अत: तत्त्वज्ञान से अपने मन को वश में रखते है और सोच रहे है कि, 'यह स्त्री तो मेरी पुत्री के समान है, उस पर मोह करना व्यर्थ है।'

स्त्रीचरित्र :

स्त्रीरूपी व्यास देखते है कि ऋषि अभी भी दृढ है, अत: पुन: नाटक करते हुए अपने शरीर से काँपना शुरु कर देते है और रोते हुए बोलते है : 'हाय रे ! इतनी शीत लहर है, जो मुझ से सहन नहीं हो रही।'

पाराशर उस स्त्री को अपना व्याघ्रचर्म प्रदान करते हुए कहते है : 'मेरे पास और कुछ भी नहीं है, तो यह ओढकर आराम करो।'

स्त्री भी चालाक है, व्याघ्रचर्म को कुछ समय तक ओढकर पुन: काँपते हुए बोलती है : 'अरे ! तन पर वस्त्र रखने से कुछ गर्मी तो मिल रही है, किन्तु मेरे पैर तो खुले ही है। हाय ! अत्यंत ठंड लग रही है। अरे ! यह कैसे सहन होगा? मुझे मृत्यु ही क्यों नही आ जाती?' इस प्रकार बोलते हुए अपने पैर हिला रही है। यह सब उसके स्त्रीसहज नाटक है।

ऋषि भी मार्ग भूल गये :

ऋषि का कोमल हृदय इस प्रकार करुण रुदन-विलाप और स्त्री का दु:ख भी कैसे देख सकता है? ऋषि अब उस स्त्री के पैर दबाने का विचार कर रहे है। क्या यह ऋषि का कार्य है? किन्तु अबुध जीव तो स्वयं ही मन में यह विचार कर लेते है कि, 'मैं कितने वर्षों का ब्रह्मचारी हूँ, तो इस तरह स्त्री के पाँव दबाने से मुझे कोई फर्क नहीं पडेगा।'

मन में अभिमान है कि, 'हम ऋषियों को तो इस मिट्टी से बनी हुई और मल-मूत्र से भरपूर काया की माया का ज्ञान है। शरीर उपर से चाहे कितना भी मुलायम, सुकोमल और सुंदर हो, किन्तु भीतर में कैसा मल-मूत्रादि की गंदकी भरी पडी है; वह तो हम जानते ही है। अत: इस स्त्री को अवसर होने पर स्पर्श करना पड रहा है, तो उससे मुझे कोई फर्क नहीं पडेगा।'

इस प्रकार अभिमान में रक्त ऋषि को यह ज्ञात नहीं है कि स्त्री के स्पर्श की बात तो दूर, उसके शरीर का विचारमात्र भी अत्यंत खतरनाक है, मन में वासना के विकार प्रज्वलित कर ही देता है। यदि साक्षात् स्पर्श ही किया जाये, तब तो क्या कहना? विकारों को जागृत होने में देर नहीं लगती।

तत्त्व-समझ अलग बात है और इन्द्रियजन्य अनुभव-संवेदन अलग बात है।

'स्त्री के शरीर में मोह नहीं रखना चाहिये' यह समझ भले हो, किन्तु जब चक्षु से उसके उद्‌भट रूप का दर्शन किया, तब अंतर में उठनेवाला संवेदन वह शाता का अनुभव करता है; जिससे वह समझ का स्मरण भी नहीं रहता और यह संवेदन चित्त को झंकृत कर देता है।

इसी तरह स्त्री के कोमल कंठ से वचन या गीत सुना या कोई संगीतकार के कोकीलकंठ से विलासगीत सुना, तो उस श्रवण का संवेदन भी शाता का अनुभव करवाता है।

इन दोनों इन्द्रियों से भी ज्यादा स्पर्श का अनुभव भयानक है। किसी सुकोमल स्त्री का हल्का सा भी स्पर्श किया, तो समझो पतन की शुरुआत हो गई।

चाहे कैसी भी महान तत्त्वसमझ और वर्षों का तत्त्वचिंतन हो, वह तमाम निरर्थक हो जाता है और सुकोमल स्पर्श का संवेदन मन में वह शाता देता है कि विषयलंपटता जागृत हो जाती है।

मन के बोध से ज्यादा मन की विषयविकार बडी बात है। तभी तो शुष्क हृदयवाले आत्मा को परमात्मा दर्शन से ज्यादा स्त्री का दर्शन असर कर देता है, क्योंकि उसे प्रभु के दर्शन में मात्र बोध ही प्राप्त होता है, जबकि स्त्री के दर्शन से मन में लालायितता पैदा होती है, शाता का साक्षात् अनुभव होता है।

भक्तिभावित आत्मा को प्रभुदर्शन में शाता का अनुभव होता है और अंतरमन में प्रसन्नता होती है कि, 'वाह ! कैसी अद्भुत वीतराग मुद्रा ! मुझे वीतराग के दर्शन ! वीतराग का मिलन ! कैसे मिल सकता है? मेरे अहोभाग्य है !' यह भाव मन में आते ही हृदय गद्गद हो जाता है, शरीर की रोम-रोम खील उठती है, महान शाता का अनुभव होता हे।

शरीर में रोग या पीडा हो या धन-संपत्ति का कोई दु:ख हो, फिर भी कामांध पुरुष को स्त्री के दर्शन या स्पर्श से शाता का अनुभव होता है, वैसे भक्त हृदय को प्रभु के दर्शन से शाता का अनुभव होता है, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। सवाल तो यही है कि क्या मन में ऐसी भक्ति के भाव है?

स्त्री के प्रति राग होने से हृदय में हरकत होती है, अत: युवान और उद्भट वेशधारी स्त्री को देखते ही अंतर में अग्निज्वाला या किसी राक्षणी को देखते ही मन में जो डर पैदा होता है, वह डर नहीं लग रहा, किन्तु शाता का अनुभव होता है। तभी तो आँखे वहीं थम जाती है, पुन: पुन: वहीं पर नजरें जाती है; किसी वृद्ध औरत को देखकर यह भाव नहीं होता।

यही फर्क से ज्ञात होता है कि युवती के दर्शन से भीतर में शाता का अनुभव होता है, कुछ गुदगुदी-सी हो रही है। इसलिए स्त्री का दर्शन ही निरर्थक है।

कहने का तात्पर्य यही है कि दर्शन करने पर शाता का अनुभव करने से हो रही हृदय-झंकृति अलग बात है और अनुभवरहित तत्त्वबोध अलग बात है।

वीतराग के दर्शन करते समय 'यह वीतराग प्रभु है' यही समझ मात्र है? या अंतरमन में झिनझिनाहट भी होती है?

इस भेद का रहस्य जानना जरुरी है। झिनझिनाहट का अनुभव हो कि, 'कैसी उत्तम वीतरागता ! कैसे अद्‌भूत गुण ! आज के जगत में वीतराग की प्राप्ति भी दुर्लभ है !' इत्यादि विचार के द्वारा प्रभुमिलन का आनंद हो, अंतर के तार प्रफुल्लित हो रहे हो, परम शाता का अनुभव हो; ऐसे समय में राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ से भरपूर स्त्री के दर्शन से अल्प शाता का भी अनुभव नहीं होगा, आँख उस स्त्री पर अल्प समय हेतु भी स्थिर ना हो कर झुक जाती है, बंद हो जाती है और मन में वीतराग प्रभु का चिंतन कार्यरत रहता है।

किन्तु यह अत्यंत कठीन है। अनादि के कुसंस्कारों के योग से प्रभु का त्याग करके आँख स्त्री को ही देखती रहती है, यह बात सूचन करती है कि स्त्री में कोई आनंद, कोई शाता का अनुभव होता है; मात्र सूखा दर्शन ही नहीं है। यदि स्त्री के दर्शनमात्र से यह दशा हो सकती है, तो स्त्री के स्पर्श से क्या दशा प्राप्त होगी? शूल की भाँति वह स्पर्श चूभेगा?

पाराशर ऋषि स्त्री को हाथों से पकडकर कुटीर के भीतर ले आये, तभी हल्की-सी शाता का अनुभव करते है, अब स्पर्श बढता जायेगा, तो क्या दशा होगी?

व्यास को तो परीक्षा ही करनी है, अत: स्त्रीरूप में नखरों को भी बढाते है। स्त्री अपने पैरों को कंपायमान करते हुए रुदन करती है कि, 'हाय ! शरीर को वस्त्र मिलने से गर्मी का अनुभव हो रहा है, परंतु मेरे खुले पैर तो ठंड से काँप रहे है।'

ऋषि भी उसके करुण आक्रंद से भावुक हो कर बोलते है : 'मेरे पास अन्य कोई वस्त्र नहीं है। मैं तुम्हारे पाँव दबा देता हूँ।'

स्त्री कहती है : 'महाराज ! मेरा अवतार बरबाद हो जायेगा। आपकी सेवा मैं कैसे ग्रहण करूँ? नरक में भी जगह नहीं मिलेगी मुझे।'

ऋषि कहते है : 'तुम चिंता ना करो। यह तो आपत्काल है, अभी इस प्रकार विचार ना करो।' यह बोलकर ऋषि उसके पैर दबाने लगे।

शरीर पर कपडे भीगे हुए है और स्त्री ने भी अपनी अदाओं के बहाने वस्त्रों को अस्तव्यस्त कर दिये है। ऐसी स्थिति में ऋषि भी जैसे ही स्पर्श का योग प्राप्त होता है, वैसे पैरों के तलवे से दबाते हुए धीरे-धीरे उनके हाथ उपर आने लगते है। ऋषि के भीतर में भी मोह का मार्ग खुलने लगा, प्रमोद का एहसास होने लगा और अब वह हाथ आगे बढते ही जा रहे है।

स्त्री का स्पर्श यानि शराब और देवता का योग :

शास्त्रों में स्त्री के स्पर्श को शराब और देवता का योग कहा गया है। शराब को देवता मिलने के पश्चात् गजब तो होना ही है। अग्नि के साक्षात् स्पर्श तो क्या, अग्नि के निकट होने पर भी घी पिघल ही जाता है। तभी तो ब्रह्मचर्य का नियम है कि स्त्री हो, उस स्थान में साधु को नहीं रहना चाहिये। फिर तो स्त्री को देखने-स्पर्श करने का सवाल ही नहीं उठता।

आज की विषयलंपटता से भरपूर सिनेमा को देखनेवाला कौन स्वयं को बचा सकेगा? जहाँ स्त्री के उद्भट दर्शन होते है, स्त्री का अभिनय, अंगमरोड आदि आँखे फाडकर टुकुर-टुकुर देखा जाता हो, और उसके मधुर गीत और बातें सुनी जाती हो, यह सब देखनेवाले को अंतर में गजब की शाता मिलती है, मधुरता का अनुभव होता है। यदि नहीं होता, तो आँखो को बंध ही कर देता।

उत्तम आर्य प्रजा की पश्चिमी अनुकरण - सिनेमा आदि से मौत हो रही है।

नास्तिक और विषयलंपट पश्चिमी संस्कृति में अभद्र परिणाम बढते ही गये है। प्रथम तो एकांत में स्त्री के वस्त्रहीन नृत्य चल रहे थे, अब तो सरेआम विश्व

के समक्ष मर्यादाहीन युवान-युवतीओं की दौड शुरु हो गई है। इस संस्कृति से क्या सिखना? परंतु जब अंतर में कामवासना की ज्वाला जागृत हो जाती है, तब आर्यत्व का कोई होश ही नहीं रहता। अन्यथा,

खुले सर, खुले तन गणिका के होते है या श्राविका के? भंगीणी के होते है या कुलीन आर्य बाला के?

पाराशर का पतन :

पाराशर भी मार्ग से पतित हो गये। स्त्री के सुकोमल पैरों के तलवे का स्पर्श करते ही मधुरता-शाता-झिनझिनाहट का अनुभव हुआ, तो आगे बढने से कैसे बच पायेंगे? ऋषि जैसे-जैसे पैर दबाते है वैसे-वैसे वह स्त्री भी चंचलता से मधुर आवाज से 'हाश !' बोलती रहती है। ऋषि भी समझते है कि, 'अच्छा है, उसको पैर दबाने से राहत मिल रही है।'

पैरों को दबाते-दबाते ऋषि का हृदय भी संपूर्णतया पिघल गया, मानसिक विकार बढते गये और प्रबलता से जागृत हो गये। स्त्री को स्पर्श पसंद आ रहा है; यह देखकर सर्वांग आलिंगन करने जाते है, तब व्यास ने जान लिया कि अब परीक्षा पूर्ण हो चूकी है। अत: उन्होंने स्त्री रूप का संहरण किया और अपने मूल व्यास के रूप में ऋषि के समक्ष प्रस्तुत हुए।

व्यास को सामने देखकर पाराशर ऋषि की भी क्या मजाल थी कि उनके नजरों में नजरें मिलाकर देख सके? स्वयं अपने कृत्य का, अपने अध:पतन को जानते ही है। नजरों के सामने वह तमाम पल दृश्यमान हो रहे है, अत: उनका सर शर्म से झुक गया।

व्यास पूछते है : 'बोलो ऋषिजी ! अब उस वाक्य को रद करूँ?'

ऋषि कहते है : 'क्षमा करें। अनुभव से यह जान लिया कि इन्द्रियों का समूह बलवान है, जो अच्छे से अच्छे पंडित और ऋषिओं को भी म्हात देता है।'

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि जीवन में चाहकर भी स्त्रीओं का दर्शन नहीं करना चाहिये और उनका स्पर्श तो बिलकुल भी नहीं करना चाहिये।

व्यवहार से सदाचारी किन्तु जीवन में भी यदि स्पर्श का अनुभव ज्यादा होता रहा, तो मन तामस भाव में प्रवृत्त हो ही जाता है, वासना-विकार वृद्धिवंत होते ही रहते है और पर्वतिथि में भी ब्रह्मचर्यपालन और वृद्ध उम्र में भी जीवनपर्यंत के ब्रह्मचर्य का स्वीकार दुष्कर हो जाता है।

बचने की भावना :

यह बडी बात नहीं है, दर्शन-स्पर्शन का निग्रह करना बडी बात नहीं है। मात्र इतना ही विचार करना है कि, 'कब तक अनंत काल से अतृप्त इन्द्रियों का तर्पण करना पडेगा? यह भूख चाहे कितने भी और चाहे कितनी भी बार विषय देने पर भी शांत नहीं होगी। जैसे-जैसे विषयों से इस भूख को शांत करने जायेंगे, वैसे-वैसे यह विषय-संस्कार प्रगाढ बनते जायेंगे और सदैव विषयलोलुपता के लिये तैयार ही रहती है।'

कहीं किस समूह-सभा में जाते ही किसी स्त्री को देखने हेतु मन में विचार आता है कि, 'एक बार देख तो लूँ; कौन है, कैसी है?' और देख लिया, वह युवती होने से आँखे स्थिर हो गई, फिर भले ही आँखे फैर ली, किन्तु समझ के रखों कि विकारी आँख फिर से वहाँ जायेगी ही। वैसे ही अन्य सभ्य स्त्री को भी देखने हेतु दौडेगी और देख देखकर शाता का अनुभव करेगी।

मात्र दर्शन करने से यह स्थिति होती है, तो स्पर्श करने पर स्पर्शन इन्द्रिय की आतुरता का क्या कहना? फिर भले ही स्वयं की पत्नी ही क्यों ना हो ! ऐसे विषयांध आत्मा तो तीर्थस्थल में भी नहीं बच सकते।

विषमता यही है कि स्त्री के दर्शन और विशेष रूप से स्पर्श मन को इस प्रकार कामांध और नि:सत्त्व बना देता है कि आँख परमात्मा के प्रति स्थिर होती ही नहीं और मन परमात्मा की भक्ति में भावुक होता ही नहीं। दर्शन-पूजन-स्तवन आदि तमाम क्रिया कोरे मन से ही होती रहेगी। हृदय में संवेदना नहीं होगी, प्रभुभक्ति में कोई रोमांच पैदा नहीं होगा और ना ही आँखें अश्रुसभर बन पायेगी।

विषयासक्त इन्द्रियों के गुलाम बनना मूर्खता है।

कामलता के प्रति चरवाहा मोहित :

कामलता को मूर्छित अवस्था में पानी में बहती हुई देख चरवाहा बाहर निकालकर ले आया था। कामलता के शरीर पर भी पानी से भीगे हुए वस्त्र थे, अत: उसके शरीर का मुलायम स्पर्श भी हुआ और अग्नि से ताप दे कर कामलता के स्वस्थ होने पर उसके रूप का दर्शन भी कर रहा है। फिर तो क्या बाकी रहना था?

उसके मन में विकार पैदा हुए। अत: वह कामलता को अपनी पत्नी बनाने की वांछा करता है। वह पूछता है : 'तुम कौन हो? और पानी में कैसे गिर गई?'

कामलता सोचती है कि, 'मैं तो चिता के बीच जलकर मरने हेतु बैठ गई थी, तो पानी में कैसे जा पहुँची?'

थोडा बहुत सोचने पर स्मरण हुआ और उसने कल्पना कर ली कि अनराधार वर्षा हुई होगी, जिसके कारण अग्नि बुझ गई होगी और स्वयं पानी में बहने लगी होगी। किन्तु अब उस चरवाहे को क्या कहना? स्वयं के जीवन में जो भी घटना हुई है, वह कहने के लायक नहीं है, अत: कुछ मिथ्याभाषण ही करना पडेगा।

यह सोचकर कामलता कहती है : 'मेरे कर्मों की कठिनाई को क्या कहूँ? मैं मेरे पति के साथ कहीं जा रही थी, तभी हम मार्ग से भटक गये और वन के मार्ग पर चले गये। रात्रि का समय होने से वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे, तभी अचानक मूशलाधार वर्षा शुरु हो गई और पानी की बहाड आ गई। हम दोनों बहाड में डूब गये। फिर तो दोनों का मिलाप होना असंभव था। मेरे पति डूब गये, परंतु मेरा भाग्य जागृत था, तो मैं यहाँ तक आ पहुँची और आपने मुझे बचा लिया। किन्तु भाग्यशाली भी कैसे रही? मेरा तो भाग्य ही टूट गया। हाय रे ! मेरे पति डूब गये !' यह बोलकर कामलता जोरों से आक्रंद करने लगी, सब माया-प्रपंच ही तो था !

वह चरवाहा भी मन से अत्यंत प्रसन्न हो गया, क्योंकि अब वह कामलता को पत्नी बना सकता था। वह बोलता है : 'अब रोने से क्या फायदा?

और अब अपने घर जा कर भी क्या फायदा? पति के बगैर अब घर में तुम्हारा कोई मान नहीं रहेगा। अत: मेरी बात मान और मेरी पत्नी बन जा। मेरा गृह सम्हाल। तुम्हें मैं पलकों पर बिठाकर रखुँगा।'

कामलता यह सुनकर सोचने लगी कि, 'क्या करुँ?'

सोचों, कामलता जीवन के घोर पापों के प्रचंड पश्चात्ताप से मरने हेतु भी तैयार हो गई थी और अग्नि के मध्य भी बैठ गई थी, किन्तु पानी ने जैसे उसके शरीर को भीगोकर शीतल बना दिया, वैसे कौन जाने क्यों उसका पश्चात्ताप भी शांत हो गया !

कामलता अब मृत्यु की इच्छा का त्याग करके पुन: अन्य विचार में प्रवृत्त हो रही है। चरवाहा उसे पत्नी बनाने की लालच दे रहा है ना? क्योंकि चरवाहा उसे उठाकर ले आया था, हाथ के स्पर्श से ताप दिया था, अत: मूर्छित अवस्था में भी कामलता को अव्यक्त झिनझिनाहट होने लगी थी। पुरुष के स्पर्श से उसके मन में हल्का सा विकार उत्पन्न हुआ था, जो अब वृद्धि प्राप्त करने लगा है।

सवाल होगा कि, 'बेहोशी की हालत में भी असर होती है क्या?' हाँ, होती है, क्योंकि विजातीय आकर्षण के गहन संस्कार आत्मा के साथ ओतप्रोत हो चुके है। वह अव्यक्त अवस्था में भी विजातीय के स्पर्श की असर ग्रहण करते है।

शसक-भसक की बहन साध्वी :

शास्त्र में शसक और भसक नामक दो मुनियों की बहन साध्वी का प्रसंग बताया गया है। साध्वी अत्यंत रूपवान थी, अत: नगर में जब भी मार्ग पर जाते, तब उद्धत युवक उन्हें देखते रहते थे और उपाश्रय के बाहर भी खडे रहकर उन्हें देखने हेतु प्रयत्न करते रहते थे। इस कारण से उनके दोनों भाईमुनि जो सहस्त्रयोद्धा थे, उन्हें दिन के समय उपाश्रय के बाहर साध्वी के शील की रक्षा हेतु पहरेदारी करनी पडती थी।

साध्वी ने सोचा कि, 'धिक्कार है मेरे रूप को, क्योंकि अबुध अज्ञानी जीव इसके प्रेम में पागल बनते है और भाई मुनियों को अपना ज्ञान-ध्यान छोडकर

मेरी रक्षा हेतु व्यस्त होना पड रहा है ! बेहतर है कि अनशन करके जीवन को ही समाप्त कर दूँ और यह दुविधा को समाप्त करूँ।' कुछ दिन बितने पर साध्वी ने यावज्जीव अनशन का व्रत ग्रहण किया।

संसार में रूप-सौंदर्य के पीछे जीव मर रहे है, अविवेकी बनते है, अनेक पापों का बंधन करते है, फिर भी स्त्री उस रूप का अभिमान करके, रूप का प्रदर्शन करके नादान जीवों को फँसाती है। जैसे मकडी अपना जाल बनाकर उसका उपयोग करके निर्दोष मक्खी आदि जीवों को फँसाती है, या शिकारी अनाज के दानों से भरपूर जाल बिछाकर पंछीयों को फँसाता है, वैसे रूप-सौंदर्यरूपी जाल में स्त्री नादान-भोले आत्माओ को फँसाती है।

उस रूप को यह सुशील साध्वी धिक्कार रहे है और उसका अंत करने हेतु अनशन ग्रहण करते है। कहाँ विषयलंपट स्त्रीयाँ? और कहाँ विरागी साध्वी या सती?

संसार के रूप-सौंदर्य, धन-वैभव, मेवा-मीठाई आदि अत्यंत अहितकर है, क्योंकि यह सब जीव को गुमराह करते है, विवेक का त्याग करवाते है और अनेक पाप भी करवाते है।

जगत में तमाम विवाद इसके लिये ही है; अभिमान-विश्वासघात-माया प्रपंच सब कुछ इसके कारण ही है।

ऐसे समय में भव्यात्माओं को सोचना है कि, 'मैं किसकी खातिर पाप कर रहा हूँ? किसके लिये अभिमान और प्रपंच कर रहा हूँ? किस वजह से सगे भाई के साथ वैर-विरोध या मनमुटाव कर रहा हूँ? इन भयावह चीज-वस्तुओं के खातिर?'

पत्नी रूपवंत काया की है, तो क्या उसकी खातिर सगे माता-पिता या भाई से वैर रखना है? उनसे अलग रहना है? माता-पिता की सेवा नहीं करनी, बल्कि पत्नी की तमाम सेवा करनी है क्या?

स्वयं धन की कमाई अच्छी कर लेते हो, इसलिए अल्प कमाईवाले या अल्प बुद्धिवाले सगे भाई से बात भी नहीं करनी है? व्यापार उत्तम चल रहा है,

इसलिए नौकरो पर अपना हुकम चलाते रहना है? किसी के भी साथ तुच्छतापूर्ण वर्तन-व्यवहार ही रखना है?

कभी जीवन को भी तराशकर देखों कि, आंतरिक शुद्धि कितनी है?

अवसर होने पर धर्म में रुपये भी खर्च कर देते हो, तपस्या भी कर लेते हो, धर्म की अन्य आराधना और सेवा के कार्य भी कर लेते हो, किन्तु यह जानना जरुरी है कि जीवन में आंतरशुद्धि कितनी है?

आंतर अशुद्धियाँ :

आंतर अशुद्धि का विचार करेंगे, तो अत्यधिक अशुद्धियाँ अंतर में भरी हुई दिखेगी ! उदा. स्वयं को नापसंद व्यक्ति की संपत्ति या चतुराई या गुण या सुकृत की कोई प्रशंसा करता है, तो वह सहन नहीं होगा, **ईर्ष्या-असूया-जलन होते है; यह आंतर अशुद्धि है।**

अरे ! कभी-कभी तो स्वयं के प्रिय व्यक्ति की प्रशंसा सुनने पर भी ईर्ष्या होती है !

पिता को पुत्र प्रिय है, किन्तु कोई कह दे कि, 'आपका पुत्र आप से भी ज्यादा चतुर-विवेकवंत-काबिल है,' यह सुनते ही पिता व्यथित होकर सोचते है कि, 'मुझ से भी ज्यादा आजकल का लडका चतुर हो गया? क्या बकवास कर रहा है।'

स्वयं के प्रियजन पर भी ईर्ष्या क्यों? मूलत: संसार के व्यर्थ सम्मान की लालसा कारण है।

अन्य के कार्य पर ईर्ष्या-असूया-जलन इत्यादि आंतरिक अशुद्धि कहीं आपके जीवन में तो शामिल नहीं है ना? यह जानना जरुरी है।

जीवन के अंत तक धर्म किया जाये, किन्तु यह ईर्ष्या आदि अशुद्धि का त्याग ना हुआ, तो आत्मा की दुर्दशा ही होगी। क्या धर्म इन अशुद्धियों का त्याग करने की शिक्षा नहीं देता? देता है; किन्तु यह आंतरिक अशुद्धि जीवनपर्यंत मन में रखकर परलोक भी ले जाने से वहाँ क्या कार्य करेगी? और क्या वहाँ उन अशुद्धियों को भूलना मुमकीन है? याद रखना,

यहाँ पर सिखा हुआ ज्ञान यहीं रह जायेगा, परभव में साथ नहीं आयेगा; किन्तु यहाँ की अशुद्ध आत्मदशा तो साथ ही आयेगी; क्योंकि वह आत्मा द्वारा रचे गये संस्कार है।

सुवर्ण को पिघलाकर उसका चूडा आदि विभिन्न घाट बनाया जाता है। उस पर जो रंग लगाया जाता है, वह शायद मिट भी जायेगा, किन्तु वह सुवर्ण कहीं भी ले जाओ, वहाँ चूडे का घाट तो रहेगा ही। वैसे सुखी-गुणवान-सुकृत करनेवाले की ईर्ष्या कर-कर के आत्मा ने वह घाट धारण करके जो आत्मदशा बनाई है, वह परभव में भी आत्मा के साथ ही रहेगी। ऐसी अन्य अनेक अशुद्धियों की आत्मदशा भी साथ ही रहेगी।

एक आंतर अशुद्धि, हर बात में मद-गर्व-मानाकांक्षा की भी है।

- जरा-सी हुंशीयारी, विद्वत्ता प्राप्त होने पर वही विशेषता, विद्वत्ता जिनके पास नहीं है, उन जीवों के सन्मुख स्वप्रशंसा करना पसंद है।
- वैसे ही, कुछ धन-संपत्ति मिलने पर, कोई पदवी प्राप्त होने पर, घर-परिवार में बडप्पन मिलने पर अभिमान अपना घर बना लेता है।
- इतना ही नहीं, दान, परोपकार करके भी मान कषाय अपना रंग जमाता है, स्वप्रशंसा की बौछार की जाती है; यह अभिमान है।
- तमाम स्थिति में 'मेरा मान बने रहना चाहिये, मैं कैसे श्रेष्ठ दिखूँ' यह मानाकांक्षा रहती है।

यह तमाम आंतर अशुद्धि है। इनमें से कुछ भी आपके जीवन में है या नहीं? यह जाँचना जरुरी है।

एक अशुद्धि स्वार्थांधता की भी है।

- स्वार्थ से अंध बने हुए को परदु:ख की कोई परवाह ही नहीं होती। वह मात्र स्वयं की स्थिति को ही सही बनाने की सोचता है। उसे सब सही चाहिये, इस लेश्या में साधर्मिक की तरफ देखता तक नहीं। तो फिर स्वार्थपूर्ति हेतु पाप करने में पीछे भी क्यों रहेगा? या क्या बाकी रखेगा?

अन्य दु:खीयों का थोडा-सा उद्धार भी क्यों करेगा? हृदय ही ऐसा निष्ठुर बन जाता है कि पर का विचार ही नहीं करता।

यह भी स्वजीवन में देखे कि कहीं इस प्रकार अंध स्वार्थरसिकता तो आपके जीवन में भी नहीं है ना?

एक और अशुद्धि सगे भाई, परिवार के साथ विवाद करने की और वैरविरोध करने की भी है।

- कितना धर्म कर लेने से यह अशुद्धि दूर होगी? स्वभाव हो गया है, तो कैसे जायेगा? संवत्सरी प्रतिक्रमण भी कर पाओंगे, किन्तु यह अशुद्धि नहीं छोड पाओंगे। स्वयं की बडी से बडी भूल को याद नहीं रखोंगे, किन्तु सामनेवाले की छोटी से छोटी भूल को भी बिलकुल याद रखोंगे !

धर्मी बनकर घुमते रहनेवालों को स्व-जीवन सही तरीके से देखना है कि आत्मा में इस प्रकार कितनी आंतर अशुद्धि ने अपना घर बना लिया है। धर्मी बनना है और अशुद्धि को भी स्थिर रखना है, तो सच्चे धर्मात्मा कैसे बन पाओगे? धर्म बाहर से ही हो रहा है, जबकि अशुद्धि अंतर में स्थायी है।

धर्मात्मा अर्थात् बाहर से नहीं, बल्कि अंतर से धर्म को समर्पित होनेवाला।

श्री जिनेश्वर परमात्मा का धर्म तो इस हद तक सुंदर है कि यदि वह अंतर में बस गया, तो अशुद्धि अपना रास्ता नाँप लेगी। तब जीव धर्मात्मा बन पाता है, अन्यथा तो पापात्मा था, है और रहेगा।

परमात्मा का धर्म दिल में बसाकर धर्म करनेवाला जीव क्या,

(१) बडे बुजुर्गों का अविनय करनेवाला होता है?
(२) क्रोधित बनकर कहीं भी लडाई-विवाद करनेवाला बनेगा?
(३) माता-पिता या सगे भाई के साथ वैरविरोध-कलह करनेवाला बनता है?
(४) अभिमान में उसकी नासिका फूलती ही रहेगी?
(५) अन्य की निंदा में ही प्रवृत्त रहेगा?
(६) विश्वासघात-द्रोह-मायाप्रपंच करनेवाला बनता है?

(७) लोगों के पैसे ले कर पुन: उन्हें ना लौटाते हुए स्वयं उन पैसों से मोज-मजा करेगा?

इन प्रकार की अशुद्धियों का कोई दु:ख ही नहीं, तो फिर उन्हें मिटाने की समझ भी कैसे होगी? या मिटाने का प्रयत्न भी क्यों होगा? इस महान अवतार में भी यह भाव नहीं है, तो यहाँ से क्या आत्मदशा ले कर जाना है? अधम-अधमाधम ही ना? तो अगले भव में क्या रहेगा? इस भव के धनसंपत्ति, रूपसौंदर्य, प्रतिष्ठा, मान मरतबा आदि तमाम सुख स्वप्न की तरह गायब हो जायेंगे और यह अधम आत्मदशा ही प्रत्यक्ष रहेगी ना?

उत्तम आत्मा को यह समझकर यहाँ इस भव में ही आंतरिक अशुद्धि का पोषण करने के अलावा उसको कम करते रहने का ही विचार जागृत होता है और वह आत्मा अपना श्रेष्ठ पुरुषार्थ भी करता है। वह धर्म करता है, किन्तु स्वात्मा की इन अशुद्धियों को नष्ट करने के मुख्य हेतु से।

धर्म से अशुद्धि मिट सकती है? हाँ।

तो अनेक आत्मा धर्म करते है, तो उनकी अशुद्धि क्यों नाबूद नहीं हो रही?

उन्हें नाबूद करनी ही नहीं है, तो कैसे होगी? अशुद्धि को टालने हेतु प्रथम बुद्धि का होना अनिवार्य है। जब अशुद्धि को नाबूद करने की बुद्धि ही ना हो, इच्छा ही ना हो, तो धर्म भी क्या कर पायेगा?

धर्म से मोक्ष प्राप्त होता है, परंतु किसे? जिसे मोक्ष चाहिये उसे। जिसे मोक्ष ही नहीं चाहिये, उन्हें धर्म मोक्ष तक कैसे पहुँचा सकता है?

वैसे अशुद्धि को नाबूद करने के लिये भी यही नियम है। जिस उत्तम जीव को अशुद्धि को नष्ट करने की कामना है और धर्म करते समय यही लक्ष्य रखता है, उसको धर्म से अशुद्धि नाबूद करने का सत्त्व प्राप्त होता है।

अशुद्धि नाबूदी की तमन्ना उदयकाल है।

यह मानव-आयुष्यकाल उदयकालरूप बीते यह इच्छा है? तो हृदय से यही तमन्ना रखों। फिर मन की सच्ची तमन्ना कोई ना कोई पुरुषार्थ अवश्य करवायेगी।

तमन्ना है कि, 'मैं ईर्ष्या-वैरविरोध-आपमति-स्वार्थांधता-विषयलंपटता आदि निजात्मा की आंतर अशुद्धियों को, भीतर के कचरे को बाहर निकाल फेंकूँ।' यह सोचने पर,

- जब भी कोई लालसा जागृत होगी, तब तुरंत मन सावधान हो जायेगा।
- अंतर की खामीयाँ कैसे और कब थम जाये; इस बात पर ही विचारधारा स्थिर होगी।
- अरिहंत, अरिहंत का जीवन, महापुरुषों का जीवन, जिनाज्ञा को याद किया जायेगा।
- उनके आलंबन से दोषसेवन का प्रयत्न भी नहीं होगा।

शसक-भसक मुनियों की बहन साध्वी यही सोच रही है कि, 'धिक्कार है मेरे रूप को, जो भोले युवाओं को मोहीत करके उन्मादी बना रहा है और उन उन्मादीओं से बचाने हेतु भाई मुनिओं को भी ज्ञान-ध्यान में विक्षेप हो रहा है।'

रूप पर गर्व और अन्य को रूप में फँसाने की लेश्या; भीतर की मलिनता है। **जबकि रूप अन्य पामर जीवों को फँसानेवाला होने से उस पर धिक्कार; वो अंतर की निर्मलता है।**

इस निर्मलता को धारण करनेवाले साध्वी मात्र धिक्कार ही नहीं करते, बल्कि जीवों पर भावदया से और भाई मुनिओं की साधना ना थम जाये इस भावना से रूप नष्ट करने हेतु अनशन का आरंभ किया। कुछ समय बीतने के पश्चात् उनका शरीर बिलकुल स्थिर हो गया, यावत् शब की भाँति बिलकुल निश्चेतन हो गया।

लोगों ने तो मान ही लिया कि अब वह जीवित नहीं है, अत: भाईमुनि भी उन्हें उठाकर वन में रख आते है। जैन साध्वी का आंतर अशुद्धि का स्पर्शन ना हो, इसलिए कैसा भारी पुरुषार्थ?

महावीर स्वामीजी के जीवन में भी देखने से ज्ञात होता है कि आंतर अशुद्धियों को दूर करने हेतु प्रचंड पुरुषार्थ किया गया है।

- चंडकौशिक सर्प प्रभु को डंश दे रहा है, फिर भी प्रभु को उसके प्रति लेशमात्र क्रोध या तिरस्कार भाव नहीं होता।
- गौतम इन्द्रभूति ब्राह्मण अभिमान से प्रभु के साथ वाद करने पधारे, तब भी उनका अनादर ना करते हुए मधुर वचनों से स्वागत करते है।
- अरे ! प्रभु जब संसार में थे, तब भी स्वयं महान अवधिज्ञानी होने के बावजुद माता-पिता उन्हें अभ्यास अर्थ पंडित के पास ले जाते है, तब भी प्रभु उन्हें एक अक्षर तक नहीं कहते कि, 'अरे ! यह आप क्या कर रहे हो? मेरे से ज्यादा आपका पंडित क्या जानता है?' लेशमात्र अभिमान की मलिनता नहीं।

बालक वीर ने देवता पर मुष्टि से प्रहार क्यों किया? :

प्रश्न : तो फिर बाल क्रीडा में परीक्षा करने हेतु आनेवाला देवता जब प्रभु को अपने काँधे पर बिठाकर सात ताडवृक्ष के जितना ऊँचा रूप धारण करता है, तब प्रभु ने क्यों उसके काँधे पर मुष्टिप्रहार किया?

उत्तर : वह प्रहार अभिमान से नहीं, बल्कि मिथ्यात्वी देव को अरिहंत के बल का ज्ञान नहीं था, यह उसका मिथ्यात्व था। उसी मिथ्यात्व का नाश करने हेतु मुष्टि से प्रहार किया था और देवता को भी अपनी गलती का एहसास हो चुका। वह अपनी अज्ञानता की क्षमा याचना करके चला गया।

इसी प्रकार परमात्मा ने मेरु शिखर पर जन्माभिषेक के समय मेरु पर्वत को कंपायमान कर दिया, वह भी अभिमान से नहीं, बल्कि इन्द्र अरिहंत की निर्बलता का विचार करके आशातना कर रहा था, इन्द्र को इस महा आशातना से बचाने हेतु मेरु पर्वत को भी कंपायमान कर दिया।

प्रभु में अभिमान नहीं था; यह बात उनके विनम्र गंभीर सांसारिक जीवन से ज्ञात होता है। अन्यथा माता-पिता उन्हें विद्याभ्यास हेतु गुरु के पास ले जाते है, तब चूपचाप क्यों तैयार हो जाते है?

बात यही है कि जीवन से इर्ष्या आदि आंतर अशुद्धियों का त्याग करना जरुरी है। अस्तु।

शसक-भसक की बहन साध्वी को अनशन में मृतक मानकर दोनों भाईमुनि उनके देह को उठाकर दूर वन में रख के आ जाते है, किन्तु उनके जाने के बाद कुछ शीत पवन की लहरों से साध्वी को होंश आया। आँखे खोलकर देखते है कि आसपास निर्जन जंगल है। सोचने लगे कि,

'यह क्या? स्वयं यहाँ कैसे पहुँच गई? कल्पना करने लगे कि स्वयं की अनशन में निर्बलता बढते-बढते मृत्यु जैसी अचेतन अवस्था हुई होगी और स्वयं को मृतक जानकर वन में छोड दिया होगा। अब क्या करूँ?'

यहाँ कामलता जैसी ही घटना बनती है, इसलिए ही यह दृष्टांत बताया जा रहा है। कौन सी घटना? जैसे पुरुष को स्त्री का स्पर्श वैसे ही स्त्री को भी पुरुष का स्पर्श आतुर बना देता है; अव्यक्त अवस्था में हुआ स्पर्श भी आतुर बना सकता है।

साध्वी को तो भाईओं का स्पर्श हुआ है, क्योंकि भाईमुनि ही उन्हें बेहोशी की हालत में उठाकर ले आये थे। फिर भी साध्वी को उस स्पर्श के द्वारा भी हल्की-सी आतुरता, झिनझिनाहट का अनुभव हो रहा है।

विजातीय के दर्शन-स्पर्श से भले ही अव्यक्त किन्तु मधुरता का अनुभव भयावह है। जो बरसों तक किये गये ब्रह्मचर्य पालन को भी नष्ट कर देता है।

विश्वामित्र और स्थूलिभद्र में भिन्नता क्यों? :

विश्वामित्र ऋषि मेनका अप्सरा के नृत्य, स्त्री सहज चंचलता के सामने हार गये और स्थूलिभद्रमुनि कोशावैश्या के नृत्य, चंचलता के सामने जीत गये। क्यों हुई यह भिन्नता?

विश्वामित्र उस अप्सरा अर्थात् विजातीय का दर्शन कर बैठे और उनके अंतर में आतुरता पैदा हो गई, मधुरता का अनुभव हुआ और पतित हो गये। मेनका के साथ संसारी खैल आरंभ कर दिया।

जबकि स्थूलिभद्र मुनि, भले ही कोशा वैश्या नृत्य करती, गीत गाती और विचित्र क्रिया करती, किन्तु स्वयं उसकी तरफ देखा तक नहीं। एक क्षण के लिये भी उसे देखने की, दर्शन करने की बात तक नहीं। ध्यानस्थ आँख रखकर तत्त्वचिंतन ही करते रहे।

विजातीय का दर्शन ही नहीं, तो फिर कैसी झिनझिनाहट होगी और उसके पीछे पतन भी कैसे होगा? यही बात सूचन करती है कि,

जीवन में पतन को रोकना है?

तो विजातीय के दर्शन करना भी बंद कर दो; कहीं दिख जाये तो हृदय में लेशमात्र भी शाता, मधुरता का अनुभव मत होने दो।

अनशन करनेवाले साध्वी को भले ही बेहोशी की हालत में और भले ही सगे भाईओं का स्पर्श हुआ है, किन्तु उन्होंने भी ऐसी अव्यक्त झिनझिनाहट का अनुभव कर लिया कि अब देखों वह कैसे भाव उत्पन्न करते है।

वह सोच रहे थे कि, 'अब कहाँ जाऊँ?' तभी वहाँ से एक सार्थवाह गुजर रहा था, वह साध्वी को देखकर पूछता है कि : 'बहन ! तुम कौन हो और यहाँ कैसे आ गई?'

साध्वी को सार्थवाह मिलता है :

साध्वी सोचने लगते है कि, 'क्या कहूँ?' उन्होंने विचार किया कि, 'अब अनशन का पालन करना संभव नहीं है, अत: पुन: गुरु के पास जाने में भी लज्जित होना पडेगा। इतना ही नहीं, उन युवकों द्वारा भी परेशानीयाँ तो मिलती ही रहेगी और रक्षार्थे भाई मुनिओं को भी परेशान होना पडेगा। मौत की इच्छा तो रखी थी, किन्तु वह भी प्राप्त ना हुई। अत: प्रतीत होता है कि अभी जीवन बाकी है।'

यह सोचकर सार्थवाह को कहती है कि : 'मैं परदेशी हूँ। कर्मयोग से यहाँ फँस गई हूँ।'

सार्थवाह ने सोचा कि, 'कोई खास कारण से ही यहाँ इसे छोड दी गई है;

जो कारण कहने योग्य नहीं होगा। किन्तु इसका रूप तो देवांगना को भी ईर्ष्या करवा दे ऐसा है और दिदार से भी किसी उत्तम कुल की ही लग रही है। अत: एक बार तो इसे सहारा दे दूँ।'

यह सोचकर वह बोलता है : 'किन्तु तुम अत्यंत दुर्बल दिख रही हो। कोई रोग हुआ होगा। जो भी हो, अब तु चिंता मत कर। चल हमारे साथ तुझे वाहन में ले कर जाते है।'

सार्थवाह का मन भी चोर बन गया है, अत: तात्कालिक यह मीठी बातें कर रहा है। साध्वी भी अब नि:सत्त्व बन रहे है। मौत का विचार तो भूल गये, किन्तु संयम का विचार भी अब स्मरण नहीं रहा। 'अनशन किया था, उसे छोडकर अब संयम जीवन में साध्वीयों के साथ रहना कैसे संभव होगा?' यह सोचकर भी पुन: लौटने में शर्म का अनुभव हो रहा है।

इस प्रकार मन से दुर्बल हो कर साध्वी सार्थवाह के साथ जाते है। सार्थवाह उसे उत्तम प्रकार से भोजनादि करवाता है और इस प्रकार साध्वी पुन: पूर्व की तरह रूपवंत होते है। उनकी काया पूर्व की तरह खील उठती है। अब तो सार्थवाह परस्त्री का ऐसा अद्‌भूत रूप-सौंदर्य देखकर थोडी ना शांत रहेगा? वह कहाँ महर्षि था? अरे ! महर्षि हो तो भी क्या?

रूप के भंडार समान युवास्त्री के सतत संपर्क में रहकर महर्षि भी नहीं बच सकते।

वह तो स्थूलभद्रजी महामुनि ही हो गये, जो कोशा वैश्या के गृह ४-४ माह रहने के बावजुद निश्चल रहे। और सिंहगुफावासी मुनि महा पराक्रमी होने के बावजुद उनकी नकल करने गये और वैश्या के गृह जाते ही कामांध बन गये। स्त्री का संपर्क ही अनुचित है।

साधु के मुकाम में बार-बार स्त्री जाती है, तो साधु भी मार्ग से पतित हो जाते है। तभी तो शास्त्रों ने साध्वी को योगोद्वहन की क्रिया या प्रवचन के अतिरिक्त साधु के मुकाम में प्रतिदिन जाने का निषेध किया है। साध्वी को निषेध है, तो श्राविकाओं को छूट है या निषेध?

ज्ञानीओं ने देखा है कि, साधु को स्त्री का संबंध अर्थात् शराब को देवता का योग; वह योग ही गलत है, वह विस्फोट किये बिना नहीं रहेगा।

सार्थवाह इस पतित स्त्री के सतत संपर्क में है, तो वह भी कैसे बच पायेगा? वह कामांध हुआ और अब मोहक शब्दों से उसे स्वयं की पत्नी बनाने हेतु समझाता है। वह स्त्री भी पूर्व में भाई मुनिओं के अव्यक्त स्पर्शन से अल्प कामातुर बनी थी; और इस सार्थवाह के भी सतत संपर्क में है; अत: वह भी कामांध बनती है। मनचाहा संजोग मिल गया। अत: उसने भी स्वीकार लिया और सार्थवाह की पत्नी बन बैठी।

संसार कैसा जालिम है? संसार के पदार्थ एक समय की महान साध्वी को भी किस प्रकार पतित कर देते है ! तब यही विचार होता है कि,

प्रश्न : वर्षों के संयम का स्वाद कहाँ गया?

उत्तर : किन्तु यह भी याद रहे कि जीव को विषयों का स्वाद अनंतकाल से है। वह बलवान या संयम का स्वाद बलवान? तो पूछो,

प्रश्न : तो साधु कैसे अविचल रहते है?

उत्तर : इसलिए अविचल रह पाते है कि साधु पापी विषयों के संपर्क तो क्या, स्मरण से भी दूर रहते है। अन्यथा यदि साधु मुलायम वस्त्र, राजसी गोचरी और स्त्रीओं के निरंतर संपर्क में रहते है, तो उनकी भी शामत आ ही जाती है। संयम का स्वाद नष्ट हो जाता है, विषयों का स्वाद सर पर चढ जाता है और व्यक्त या अव्यक्त पतन हो ही जाता है।

साधु ही नहीं, गृहस्थ भी इन संयोगों में पतित हो जाता है। कवि कहते है :

'रसना रामा ने रमाजी, वह तीन पातक मूल'
जुबान, स्त्री और लक्ष्मी; यह तीन पाप के मूल है।

जिह्वा के परवश होनेवाला कोई ना कोई पाप करता रहता है।

रसनेन्द्रिय को उत्तम आहार पसंद है, जिसकी खातिर जीव अनेक प्रकल्प करेगा, विवाद करेगा, असत्य बोलेगा, अनीति करेगा, दीनता भी करेगा।

अरे ! रसत्याग का उपदेश देनेवाले गुरु पर भी अभाव यावत् द्वेष भी करेगा।

- भोजन में कुछ गडबड हो गई, तो मर्यादाविहीन क्रोध करनेवाले अनेक आत्मा है।
- मनपसंद भोजन करने हेतु घर में ही चोरी, माया, कपट करनेवाले भी है।
- किसीके गृह मेहमान बनकर गये, अब यजमान ने जो भोजन बनाया वह इनको पसंद नहीं, तो उसका खा कर भी उसकी निंदा करेंगे !

यह सब बवाल इस जिह्वा का ही है।

आहार संज्ञा तो शास्त्र के पदार्थों का भी अवमूल्यन करवाती है। आज के काल में महिने की पाँच पर्वतिथि के दिन भी केले की सब्जी का उपयोग होने लगा है ना? क्या मानकर? 'केले तो पके हुए है, वह लीलोतरी में नहीं गिने जाते।' इस प्रकार के तुघलखी विचार मानकर ही ना? अरे ! यह तो सोचों कि लीलोतरी नहीं है तो क्या सुकोतरी है? सुकवणी है? शास्त्र ने पर्वतिथि के दिन लीलोतरी का त्याग बताया है, तो उसमें हरी सब्जी, फल का भी त्याग करना है। यह जानते हुए भी मात्र भोजन का आस्वादन करने हेतु केले के फल पर 'यह लीलोतरी नहीं है' यह धब्बा लगा दिया जाता है !

इसी वजह से तो वर्तमान समय में पाँच तिथि पके हुए आम-रस की छूट हो गई है।

यह जिह्वा की कैसी गुलामी है कि महिने में पच्चीस दिन केला-आम खाने के बावजुद संतोष प्राप्त नहीं होता? और पाँच तिथि भी उसका त्याग नहीं करने देती..., अरे ! खाना तो ठीक, किन्तु शास्त्रों की बातों का अवमूल्यन भी किया जाता है !

इसी जिह्वा की गुलामी ने छुट्टी के दिनों में रात्रिभोजन को स्थान दे दिया है, भोजन समारंभ में भी रात्रिभोजन और तीर्थस्थानों में भी रात्रिभोजन की छूट दे दी है ! श्रावकाचार का कोई मूल्य ही नहीं रहा। लोग भी समझते

है कि श्रावक रात्रि को भोजन नहीं करते, किन्तु श्रावक को स्वयं रात्रिभोजन का कोई अफसोस ना रहे; यह तो कितना बेहुदा वर्तन है?

इस उच्च जीवन में भी ऐसी गुलामी है, तो आनेवाले भव में हल्के जीवन में कैसी गुलामी होगी?

जैन को कम से कम नगर के बाहर, या नौकरी के कारण के सिवाय घर में भी रात्रिभोजन बिलकुल नहीं करना चाहिये। जाहिर समारंभ में भी रात्रिभोजन बिलकुल नहीं होना चाहिये। किन्तु इस रसनेन्द्रिय की गुलामी यह विवेक नहीं करने देती। अभक्ष्य का भी कोई विवेक नहीं रहेगा; यह निश्चित है।

श्रीखंड के साथ मुँग की दाल या चने के आटे से बने भजीया खा सकते है क्या? नहीं, द्विदल बनता है, जिसमें असंख्य त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है। गर्म नहीं किये गये दूध-दहीं-छाछ के साथ कठोल का संयोग अर्थात् द्विदल। वह अभक्ष्य है। किन्तु रसना-इन्द्रिय की परवशता इतना त्याग भी नहीं करने देती। कैसी दुर्दशा !

कुछ लोग कहते है :

प्रश्न : ऐसी छोटी-छोटी बातों में इतना ज्यादा पाप समाविष्ट हो गया? व्यवहार में अन्य अनीति, विश्वासघात आदि विशाल पाप भी कहाँ कम है?

उत्तर : किन्तु यह पूछनेवाले को यह ज्ञात नहीं है कि जैन अवस्था में मौलिक आचार का आनंदपूर्वक भंग करना वह सूक्ष्म नहीं, बल्कि बडा पाप है। उस पाप के आचरण में हृदय से अफसोस भी चला गया, तो समझो कि हृदय निष्ठुर बन गया। पाप में निष्ठुर बननेवाला हृदय अन्य पाप करते समय भी संकुचित नहीं होगा।

मौलिक आचारभंग के पाप की अफसोसी निकल जाने पर वह अन्य पाप की सहुलियत भी कर देता है। इतना ही नहीं, बल्कि यह पदार्थ बतानेवाले जिनशासन पर भी अनादर हो जाता है। मिथ्यात्व का बंधन होता है। 'यह तो सूक्ष्म पाप है' यह बोलनेवाला भी कहाँ तक पहुँच जाता है?

विशिष्ट पाप कौन से? :

दूसरी बात यह भी है कि आज व्यवहार की अशुद्धि को बडे पाप माननेवाले को मुनिओं की निंदा, संघ की निंदा, जैन अनुष्ठानों को 'सांप्रदायिक धर्म' बताकर अपमान करना, इत्यादि खूब आसान हो गया है। न जाने क्यों यह सब तो पाप लगते ही नहीं ! वास्तविकता में व्यवहार की अशुद्धि के पापों से ज्यादा यह पाप अत्यंत विशाल है। क्या आप मानते हो कि **'देव-गुरु-धर्म की निंदा करनेवाला सातवीं नरक में जाता है?'**

आचार भंग का पाप करनेवाला क्यों ज्यादा खराब? :

जैन को तो एक भी पाप पसंद नहीं लगता। मौलिक आचारभंग का पाप, व्यवहार की अशुद्धि का पाप, या धर्म-संघ-साधु की निंदा का पाप; यह कुछ भी जैन पसंद नहीं करता, किन्तु जो जैन आचारभंग का पाप नहीं कर रहा, उसे जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा का स्मरण रहता है। क्योंकि वह यह समझकर आचारभंग नहीं करता कि हमारे परमात्मा ने इन आचारों का पालन करने की आज्ञा दी है।

तब, उन आचारों की लापरवाही करके व्यवहार-अशुद्धि का पाप जो नहीं करता, वह तो 'लोक में प्रसिद्ध है कि व्यवहार-अशुद्धि खराब,' इसलिए नहीं करता। उसे जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा याद आये, ऐसा कोई नियम नहीं है।

इससे विपरीत, लोक प्रसिद्ध पाप को महत्त्व दे कर आचारभंग के पाप को गौण मानता है, उसे जिनाज्ञा की कोई कदर ही नहीं रहती।

जिनाज्ञा-विस्मरण का भेद समझना जरुरी है, सबूर ! इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार की अशुद्धि पाप नहीं है; पाप ही है, विशाल पाप है, किन्तु,

जिनाज्ञा की लापरवाही तो व्यवहार-अशुद्धि के पाप से भी भयावह खतरनाक पाप है।

आज के काल में जो फतवे जारी हो रहे है, उनकी मधुर बातों से सावधान रहना अत्यंत जरुरी है। आज के काल में फतवा यही कहता है कि,

'अहिंसा तात्त्विक धर्म है और आचार, अनुष्ठान सांप्रदायिक धर्म है !' इस कथन को फतवा इसलिए कहना जरुरी है, क्योंकि उसने सर्वनय एकसमान मान लिया।

जैन आचार-अनुष्ठान भी संप्रदाय ! और जैनेतर आचार-अनुष्ठान वो भी संप्रदाय ! फिर भले ही मियाभाई बकरी ईद का अनुष्ठान मनाये, वह भी संप्रदाय ! यह तो कैसी विचित्र मान्यता !

अपनी मर्यादा में तमाम धर्म ने अहिंसा को माना है, अत: इस फतवे की दृष्टि से तमाम धर्म तात्त्विक धर्म ! और आचार-अनुष्ठान अलग-अलग है, अत: उस दृष्टि से तमाम धर्म सांप्रदायिक धर्म ! यह मानना, बोलना, लिखना फतवा है।

जैन-जैनेतर धर्म में भेद :

शुद्ध तात्त्विक धर्म जैनधर्म ही है।

क्योंकि वह सर्वज्ञकथित है; और उसमें ही एकेन्द्रिय जीवों तक की पहचान होने से तात्त्विक अहिंसा को स्थान दिया गया है। तभी तो जैनधर्मी घर-संसार का वहन करते हुए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने के बावजुद यह मानते है कि उनमें मात्र सवा वसा की दया-अहिंसा है। जबकि जैनेतर तो यही समझते है कि पशु-पंखी-कीडे आदि की हिंसा का त्याग अर्थात् संपूर्ण अहिंसक जीवन !

अब, एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा को हिंसा ही नहीं समझा जाता, तो अन्य अहिंसा तात्त्विक अहिंसा कैसे हुई?

और यह भी तो देखों कि जैनधर्म की श्रेष्ठता मात्र अहिंसा पर ही नहीं है, अपितु सर्वज्ञकथित पवित्र आचार-अनुष्ठान से भी है। उसे संप्रदाय कहकर अन्य धर्म के असर्वज्ञ द्वारा बताये गये विचित्र आचार-अनुष्ठान के समान स्थापित करना तो प्रचंड अज्ञान है।

कहाँ जैनधर्म के शुद्ध अहिंसालक्षी आचार-अनुष्ठान ! और कहाँ अन्य धर्म के !

जैनधर्म के ज्ञानाचार आदि पवित्र पंचाचार के अनुष्ठान, उसमें हो रही स्खलनाओं

का प्रतिक्रमण-अनुष्ठान, और विशेष स्खलनाओं हेतु प्रायश्चित्त विधि का विस्तृत प्रतिपादन... आदि जगत में अनन्य कक्षा के है।

बडे-बडे प्रायश्चित्त शास्त्रों में प्रसंगों के माध्यम से जो विस्तरण, गहनता और सूक्ष्मता से उत्सर्गमार्ग के अनुष्ठान और अपवादमार्ग के अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है, उन पदार्थों के जैसा जगत में कुछ भी नहीं है। इन अद्‌भुत तारक अनुष्ठान-आचारों को संप्रदाय कहकर उनका अपमान करना, उनका अवमूल्यन करना; वह मूर्खता नहीं तो और क्या है?

पाश्चात्य अभ्यासु भी जैन कृत्यों पर मुग्ध :

वैसे ही, गृहस्थ-जीवन में जैनधर्म के जो दैनिक कर्तव्य, पर्व कर्तव्य, चातुर्मासिक कर्तव्य, पर्युषणा कर्तव्य, वार्षिक कर्तव्य, जीवन कर्तव्य और श्रावक के सम्यक्त्व और बारह व्रत आदि अनेकविध विधि-निषेध कर्तव्य बताये गये है, उनकी लोकोत्तमता के सन्मुख कोई भी धर्म के अनुष्ठान स्थूल ही साबित होते है। यह अनुभव पाश्चात्य युरोपियन, जर्मन आदि लोगों ने इन कर्तव्यों का मार्मिक अध्ययन किया है, उनका भी है। तभी तो,

- इंग्लेन्ड के प्रसिद्ध नाट्यकार बर्नार्डशो जैसे लोगों को आनेवाले भव में जैन बनने की चाहना थी।
- जर्मन लेडी क्राउझेन को जैन आचार का अत्यंत ममत्व था, तभी तो यहाँ किसी स्थान पर जब भोजन हेतु गये थे, तब उन्हें आम का फल परोसने पर वह तुरंत चिल्लाने लगी कि, 'अरे ! आर्द्रा नक्षत्र लग जाने पर भी आप लोग आम का सेवन कर रहे हो? क्या अब इसे खा सकते है? यह अब अभक्ष्य है।' उनके साथ भोजन करनेवाले तमाम लोग शर्मसार हो गये और उनकी जैनाचार पालन की मक्कमता देखकर स्तब्ध हो गये।
- डो. हर्मन जेकोबी भी पवित्र जैन व्रत, आचारों के चाहक थे।

विश्व में अनन्य ऐसे जैनधर्म के पवित्र आचार-अनुष्ठानों को सांप्रदायिक धर्म बताकर, 'यह तात्त्विक धर्म नहीं है, इस पर ज्यादा निर्भर रहने लायक नहीं है' यह जताना और यह जताकर इसका अवमूल्यन करना तो अज्ञान दशा ही है।

यह संप्रदायता का बकवाद एक फतवा है। जगत में आज के काल में ऐसे अनेक फतवे शुरु हो गये है। जैसेकि,

(१) सर्व धर्म समान का फतवा :

'सर्व धर्म समान है।' यह भी एक फतवा शुरु हो चुका है।

- स्वर्ण-आभूषण तमाम एक जैसे नहीं होते, कोई नकली भी होता है, कम-ज्यादा शुद्धता होती है।
- स्त्री भी तमाम एक समान नहीं होती, कोई माता, कोई पत्नी, कोई बहन होती है; कोई स्त्री सुशील और कोई कुशील होती है।
- व्यापारी तमाम एक समान नहीं होते, कोई दगेबाज भी होता है।

'इन सब में भेद हो सकता है, किन्तु धर्म में भेद नहीं हो सकता,' इस प्रकार के वचन कहे जाते है। मानो कि धर्म में नकलीयत, अज्ञानता होती ही नहीं !

(२) धर्म से विवाद का फतवा :

यह भी फतवा है कि, 'दुनिया में धर्म के नाम से अनेक विवाद होते है।'

यह तो सर्वविदित है कि,

- सत्ता-खुरशी के लिये कैसे विवाद और प्रपंच चल रहे है !
- धन-संपत्ति के विवाद में कितनी अदालत भरी हुई है !
- परिवार में वाद-विवाद किस वजह से हो रहे है? देश-देश लड रहे है, तो क्या धर्म के लिये? प्रथम-द्वितीय विश्वयुद्ध क्या धर्म का विवाद था?

(३) विज्ञान से कल्याण का फतवा :

यह भी फतवा है कि, 'विज्ञान भी मानव का कल्याण कर रहा है।'

विज्ञान कैसा है; मात्र भौतिक या आध्यात्मिक भी है? उसमें कहीं आत्मा का विचार है? या मात्र जड पदार्थों का ही ऐसा प्रबल विचार और विकास जो जड के अनंतानंत काल के प्रेमी जीव को भ्रमित कर देता है?

आंतर निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा कि भौतिक सुख बढने से उसका राग भी किस हद तक बढ चुका है और जरुरतें भी कितनी ज्यादा बढ गई है। उसकी वृद्धि से चित्त में उसके ही विकल्प भी बढ गये। अनुकूलता प्रेमी जीव मनचाही सुविधा-सुख प्राप्त करने हेतु मन को उसी में स्थिर कर देता है। यह तमाम तत्त्व खतरनाक है।

विज्ञान की अनुकूलता आत्मा की लगन भूला देती है, आत्महित और परमात्मा में मन को स्थिर नहीं रहने देती।

जड पदार्थों की अनेक आवश्यकता का निर्माण होने पर जीव का चित्त सहजता से उन पदार्थों का पोषण करने में ही प्रवृत्त रहेगा; और इस प्रवृत्ति के द्वारा मन भी वहीं स्थिर रहेगा। और वैज्ञानिक खौज से उत्तम अनुकूल चीज प्राप्त होती दिखेगी, अतः उस पर विशेष राग रहेगा। जैसेकि,

- पहले के समय में बैलगाडी आदि से सफर किया जाता था, अब ट्रेन-मोटरकार इत्यादि से सफर हो रहा है; तो भीतर से जाँचो कि प्रभु के प्रति श्रद्धा-बहुमान-प्रीति बढे या कम हो गये? पूर्व के मानव प्रभु के परम भक्त थे या आप परम भक्त है?
- धर्म की श्रद्धा, धर्म में विशेष प्रवृत्ति, धर्मसाधना में चित्त की स्थिरता, 'देवाधिदेव और गुरु का तो क्या कहना !' इस प्रकार देव-गुरु के प्रति अहोभाव किसका अधिक है? हमारा या पूर्वपुरुषों का?

निष्पक्ष बनकर इस सवाल का जवाब देना हो तो यही जवाब होगा कि पूर्व के पुरुषों में ही वह श्रद्धा आदि अधिक था, हम में नहीं।

धर्म की श्रद्धा-प्रवृत्ति और उसमें चित्त की स्थिरता का चयन न करवानेवाला कौन है? विज्ञान द्वारा निर्मित भौतिक मायाजाल, भौतिकता का भूत।

विज्ञान के द्वारा बनाये गये भौतिक साधनों के कारण ही अनाचार और सिफ्तता से चोरी, बडे पायमाने पर कत्लखाने में हिंसा, सामुहिक मानवहत्या, विश्वासघात आदि अनर्थ बढ गये है।

इस धर्मलूंपक और पापविस्तारक आत्मघाती विज्ञान के गुण गाना आज का फतवा नहीं तो और क्या है?

सारांश यही है कि आज के फतवो में बिलकुल भी मोह ना करें।

अहिंसादि तात्त्विक धर्म से फलीभूत पवित्र जैन आचार-अनुष्ठान को सांप्रदायिक धर्म कहकर उसका अवमूल्यन करनेवाला आज का फतवा बाल जीवों के भावप्राणों की क्रूर हिंसा करनेवाला है।

यह बात शुरु हुई थी, **'रसना रामा और रमाजी, वह तीन पातक मूल,'** उसमें रसना-जिह्वा इन्द्रिय की गुलामी का मूल पाप तो 'सामान्य पाप, उसका त्याग वह सांप्रदायिक धर्म अर्थात् तात्त्विक धर्म नहीं,' यह कहा जाता है, इस विषय पर बात शुरु हुई थी।

जिह्वा की गुलामी का पाप क्यों विशाल है? :

तात्त्विक धर्म की बातें करना शायद शुष्क ज्ञान हो सकता है, जबकि जिह्वा की गुलामी में जो यथेच्छ खानपान किया जाता है, उसमें शुष्क ज्ञान नहीं, बल्कि हृदय के भीतर वास्तविकता में उसकी आसक्ति के भाव गतिवंत रहते है; और भयंकर बनते जाते है।

उसमें भी 'यह तो छोटी, सामान्य बात है' यह मानने से उस पाप से नफरत और वह बतानेवाले जिनवचन का आदरभाव भी नष्ट हो जाता है। अत: निष्ठुर आसक्ति का भाव भयंकर कहा गया है।

रमा-रामा का पाप :

जैसी जिह्वा, वैसी ही रामा अर्थात् स्त्री और रमा अर्थात् लक्ष्मी। यह दोनों भी पाप के मूल है, अनेक पाप के मूल है।

उसमें लक्ष्मी के पाप तो वर्तमान काल में विश्व में दृश्यमान है कि कैसे और किस प्रकार वह पाप हो रहे है और 'रामा' स्त्री के पाप अर्थात् कामवासना के पाप यहाँ शसक-भसक मुनिओं की बहन साध्वी पतित हो कर सार्थवाह के घर तक पहुँच गई वह देखा।

यही घटना कामलता के जीवन में भी देखी कि प्रथम कामवासना के पाप में राजा उसे देखकर पतित हुआ, तो वह भी उसके साथ पतित हो गई। फिर वही कामलता वैश्या तो हुई, किन्तु उसका पुत्र भी उसके साथ कुकर्म करने

से भ्रष्ट हुआ। अब उस कामलता को बचानेवाला चरवाहा भी पतित बनकर उसे पत्नी बनने हेतु विवश करता है।

कमाल तो यह है कि यही कामलता अपने जीवन के जालिम पाप पर तीव्र पश्चात्ताप भाव से चिता में जल मरने हेतु तैयार हो गई थी, वहाँ से कामलता बच तो गई किन्तु अब यहाँ तक आ पहुँची। तो अब भूल करेगी? क्या अब चरवाहे के साथ संसार बसायेगी?

परंतु जीव ध्यान नहीं रखता तो उसकी महामूढता किस निम्न कक्षा तक पहुँच जाती है ! और कैसे विचित्र विचार करवाती है !

भाग्य पर उलटे-सीधे विचार :

कामलता ब्राह्मणी विचार करती है कि, 'अरे ! कैसा है मेरा जीवन ! भाग्य की कैसी भयावह विचित्रता है? मुझे आत्महत्या करनी थी, तो भाग्य ने मुझे मरने भी नहीं दिया। अत: प्रतीत होता है कि अभी भी भाग्य में पापकार्य लिखे है। अन्यथा मेरी मृत्यु हो ही जाती। ठीक है, तो जहाँ मुझे भाग्य ले जा रहा है, वहाँ जाऊँगी।' यह सोचकर उसने चरवाहे की बात मान ली और उसकी पत्नी बन गई ! कामलता अब चरवाहन बन गई ! मूल भीतर में वासना का जोर इस प्रकार गलत विचार प्रसारित कर रही है।

उसकी मूर्खता भी देखों : 'भाग्य में विशेष पापकार्य बाकी है, अन्यथा मौत क्यों ना आती? क्यों जिंदा रखा है?' यह विचार कर रही है, किन्तु यह नहीं सोचती कि, 'भाग्य ने मुझे मरने नहीं दिया; इस बात का यह संकेत है कि जीवन के अंत तक भ्रष्ट रहकर मुझे मरना नहीं है, बल्कि जिंदा रहकर पापों का नाश करना है और पवित्र हो कर ही मरना है।'

नहीं, यह विचार उसे नहीं होता। कैसी अज्ञान-मूर्ख-मूढ दशा !

अनेक मानव है जो 'मेरे भाग्य में पाप ही लिखे है' यह मिथ्या मान्यता धारण करके बेखौफ बनकर प्रचुर पाप करते रहते है। सोचना है कि,

१३. पाँच कारण

पाँच कारण की समझ :

प्रश्न : क्या भाग्य में लिखा ना हो, तो पाप होता है? भाग्य में पाप लिखा होगा, तो पाप तो होगा ही ना?

उत्तर : यह विपरीत मान्यता है। 'पाप करना' तो उद्यम है, प्रयत्न है, पुरुषार्थ है, जबकि 'भाग्य' तो कर्म है।

कर्म का कार्य दुन्यवी अच्छे-बुरे फल प्रदान करने का है, किन्तु कुछ भी करना, बोलना, प्रवृत्त होना, विचारना; यह पुरुषार्थ का कार्य है।

कार्य होने में पाँच कारण : काल, स्वभाव, भवितव्यता, कर्म और पुरुषार्थ। यह पाँचो स्वतंत्र कारण है। अर्थात् प्रति कारण को स्वयं की स्वतंत्रता है, अपनी-अपनी विशिष्टता है।

कार्य करने हेतु काल जो भूमिका अदा करता है, वह स्वभाव नहीं करता; और स्वभाव जो भूमिका अदा करता है, वह भवितव्यता या कर्म नहीं करता।

वैसे ही, भवितव्यता जो भूमिका अदा करती है, वह कर्म या पुरुषार्थ नहीं करते; अथवा कर्म जो भूमिका अदा करते है, वह भवितव्यता या पुरुषार्थ नहीं करते।

तात्पर्य, भले ही कार्य करने में पाँचो कारण एक साथ अपना योगदान देते है, किन्तु उसमें भी तमाम की अपनी-अपनी विशिष्टता होती है।

पाँच कारणों में हरेक की स्वतंत्रता अर्थात् कार्य के प्रति अपना विशिष्ट कोटी का योगदान।

उदा. बालक का जन्म होने पर,

(१) नौ महीने तक गर्भ रहने के पश्चात् जन्म हुआ तो वहाँ काल की भूमिका हुई; और

(२) माता ने आहार रूप ग्रहण किये औदारिक पुद्गल से ही इस बालक की औदारिक काया बनी, तो वहाँ पुद्गलों के स्वभाव ने अपना कार्य किया,

(३) माता का पुण्य था, लाभांतराय का क्षयोपशम था कि उत्तम बालक की प्राप्ति हो; और बालक का पुण्य था, लाभांतराय का क्षयोपशम था कि उत्तम माता की प्राप्ति हो; अत: माता को बालक जन्मा, यहाँ कर्म की भूमिका हुई,

(४) यह पुण्य भी इतना ही था कि माता को उत्तम बालक और बालक को उत्तम माता की प्राप्ति हो, यह तो माता को कोई भी एक उत्तम बालक, और बालक को कोई भी एक उत्तम माता प्राप्त होने से पूर्ण हो जाता, किन्तु माता को इसी बालक का योग, और बालक को इसी माता का योग हुआ, यहाँ भवितव्यता की भूमिका हुई। यह भवितव्यता ही थी, जिससे इन दोनों का योग हुआ, और

(५) बालक के जन्म में पिता का बीज और माता का आहारादि का पुरुषार्थ भी कार्य करता है, इस प्रकार पुरुषार्थ की भूमिका हुई।

पाँच कारण किस प्रकार कार्य करते है? :

इन पाँचो कारण में किसीके लिये यह नहीं कह सकते कि इसकी जरुरत नहीं है, अगर किसी कारण ने अपना कार्य किया तो अन्य कारण उसमें सम्मिलित हो गये। अर्थात्

- गर्भ नौ महीने पर ही तैयार होनेवाला था, तो उसमें स्वभाव समाविष्ट हो गया, स्वभाव ने कोई कार्य नहीं किया; यह नहीं कह सकते।
- आहार के पुद्गलों का स्वभाव शरीर रचना का था; उसका कार्य तो चालु ही था।

- वह भी बालक के कर्मानुसार रचना हुई।
- वह भी माता के आहार-विहारादिक की सावधानी के पुरुषार्थ से।
- यह सब होने के बावजुद नौ महीने की आवश्यकता थी; वह काल से प्राप्त हुई।

इस प्रकार जान सकते है कि तमाम कारण अपनी-अपनी विशिष्टतानुसार भूमिका अदा करते है।

अत: यह भी नहीं कह सकते कि, 'भवितव्यता इन दोनों आत्मा का योग होने की थी तो योग हो गया, उसमें कर्म ने कुछ नहीं किया, अगर कर्म भवितव्यता में समाविष्ट हो गये या भवितव्यता उन कर्मों को ले आई;' यह नहीं कह सकते। क्योंकि,

एक कारण का कार्य अन्य से नहीं हो सकता :

अच्छा या बुरा जीवन तो कर्म के आधार पर ही निश्चित होता है, परंतु उस जीवन में जो नियतपन अर्थात् निश्चित संयोग जुडते है, यह संयोग भवितव्यता से बनते है। इस प्रकार भवितव्यता का कार्य यही है कि, कर्म से जीव को जो अच्छे-बुरे योग होनेवाले है, उसमें आवश्यक कार्य करना, निश्चित योग बनाना।

इसलिए माता को यदि उत्तम पुत्र-प्राप्ति का पुण्य ही हो, तो भवितव्यता वह पुत्र-प्रदान नहीं करवाती, और यह पुण्य तो हो, किन्तु भवितव्यता ना हो, तो कोई खास जीव ही बालक के रूप में प्राप्त नहीं होता।

जैसा सही स्थिति में है, वैसा ही विकट स्थिति में भी है। माता का पापोदय हो, तो अविनयी, उद्धत दुश्मन के समान बालक प्राप्त होता है, परंतु उसमें भी कोई खास जीव की पुत्र के रूप में प्राप्त होता है; वह उसकी भवितव्यता की भूमिका है।

पार्श्वप्रभु को कमठ से ही वेदना; यह भवितव्यतावश :

पार्श्वनाथ परमात्मा के जीव को पहले, दूसरे, चौथे, छट्ठे, आठवें भव में कारमी वेदना-उपद्रव से मृत्यु प्राप्त होती है, मृत्यु के समय भयंकर उपद्रव-वेदना

उत्पन्न होती है, वैसे अंतिम १०वें भव में चारित्र के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व उपद्रव-वेदना होती है। उन तमाम वेदना में मुख्य कारण क्या? प्रभु के जीव द्वारा बाँधे गये स्वयं के ही अशाता वेदनीय कर्म। अशुभ कर्म के बिना वेदना होती ही नहीं।

वेदना स्वयं के अशुभ कर्म से ही प्राप्त होती है, फिर भले ही उस वेदना में निमित्त कोई जड या चेतन बन जाये; किन्तु वेदना मुख्य स्वरूप से स्वकर्म से ही प्राप्त होती है।

प्रभु को भवों-भव तक वेदना में कमठ का जीव निमित्त बन रहा है, इसका कारण क्या? तो कहेंगे कि भवितव्यता ही ऐसी थी कि कहीं भी कभी भी उसका ही योग करवा दे; और प्रभु के जीव के युगप्राचीन कुछ अशुभ कर्म होंगे और वह कर्म इस प्रकार वेदनाप्रदायक होंगे; जिसमें भवितव्यता से वह कमठ ही निमित्त बनता गया।

- पार्श्वप्रभु प्रथम भव में मरुभूति, उन्हें शिला से सर फूटने की वेदना का अशाताकर्म का उदय होना, वहाँ कमठ ने ही शिला से प्रहार किया।
- दूसरा भव हाथी का, वहाँ सर्पदंश की कारमी वेदना का कर्मोदय होना, तो भवितव्यता से कमठ का जीव ही सर्प के रूप में बना।
- और चौथे, छट्ठे, आठवें भव में प्रभु का जीव राजर्षि बना, क्रमानुसार अजगर-भील-सिंह से भयंकर वेदना के अशाता कर्मों का उदय हुआ, वहीं कमठ का जीव भी वन में अजगर-भील-सिंह बना था, किन्तु भवितव्यता से उसका योग राजर्षि से हो गया, और उसी से पीडा प्राप्त हुई।

पीडा तो अपने कर्मों के द्वारा ही; किन्तु भवितव्यतावश उसमें निमित्त यही जीव।

इस तत्त्व को प्रभु का जीव समझ रहा था, अत: दूसरे भव से उन्होंने कोई व्याकुलता नहीं रखी और ना ही कमठ के जीव को जिम्मेदार ठहराया। मात्र अपने कर्मों का ही दोष माना और समताभाव से वेदना को सहन किया। तभी तो प्रभु का जीव मोक्ष के करीब होता गया।

यही बात बताती है कि यदि भवितव्यता वेदना दे रही थी, तो प्रभु के जीव ने वेदनादाता के रूप में अपने कर्म को माना है, वह गलत मान लिया है; यही गिना जाता।

किसी भी तीर्थंकर भगवान ने यह नहीं माना कि वेदना भवितव्यता से प्राप्त होती है। अनंत तीर्थंकर परमात्मा ने यही माना है और यही कहा है कि वेदना जीव के स्वकर्मों से ही प्राप्त होती है। उसमें कुछ जीव निमित्त बन जाते है; वह भवितव्यतावश बनते है।

इस प्रकार अनंत तीर्थंकर भगवंतो ने कर्म और भवितव्यता को अलग ही कर दिया है कि जीव को सुख-दु:ख अपने शुभ-अशुभ कर्म से प्राप्त होते है और उसमें कोई जीव भवितव्यता से निमित्त बनता है।

अब यह सोचना कि, 'सब कुछ भवितव्यता से ही होता है, सुख-दु:ख आदि त्रिकाली पर्याय भवितव्यता ने निश्चित किये है,' यह जिनशासन के पदार्थों का अज्ञान है ! अनंत तीर्थंकर भगवंतो की वाणी का अपलाप है ! 'कर्म और भवितव्यता दोनों स्वतंत्र कारण है,' इस पदार्थ की क्षतिग्रस्त समझ है !

कानजीपंथी इस अज्ञान का सेवन करते है, यह अपलाप करते है, इसी अधूरी समझ से पीडित है; अत: जिनशासन का नहीं, जिनवाणी का नहीं किन्तु स्वमति से बोल रहे है। यह जैनमत ही नहीं है।

जैनमत यह है : कार्य के प्रति पाँच कारण भूमिका अदा करते है।

(१) काल
(२) स्वभाव
(३) कर्म
(४) पुरुषार्थ
(५) भवितव्यता

अलबत कार्य की पूर्ति हेतु तमाम कारण एकदूजे के सहायक बनते है, किन्तु हरेक का अपना स्वातंय है। कार्य के प्रति तमाम कारण अपना विभिन्न योगदान देते है। जो योगदान काल देता है, वह स्वभाव आदि अन्य कारण

नहीं देते और जो योगदान अन्य कारण देते है, वह काल नहीं देता। वैसे ही जो योगदान कर्म देता है, वह पुरुषार्थ नहीं देता और पुरुषार्थ जो योगदान देता है, वह कर्म नहीं देता।

उदा. शास्त्रों ने कहा है उपशमश्रेणि के पुरुषार्थ में जानेवाले को अंत में वीतरागता प्राप्त होने के बावजुद उपशांत करके दबाये हुए कर्मों का उदय होता है, तो वह उन्हें उपर से नीचे उतार देते है। तत्समय यदि आयुष्य पूर्ण हो गया, तो अनुत्तर विमान में जाते है।

अब यहाँ विशुद्धि तो इतनी ज्यादा थी कि यदि अल्प आयुष्य भी बाकी रहता, तो क्षपकश्रेणि का पुरुषार्थ करके केवलज्ञान और मोक्ष भी प्राप्त कर सकते थे; किन्तु आयुष्यकर्म की कमी हो गई।

तो आयुष्य कर्म कितना कार्य कर सकता है? मात्र जीवन प्रदान कर सकता है, किन्तु शुभ भावना किसने प्रदान की? जीव के पुरुषार्थ ने। अतः कर्म और पुरुषार्थ की भूमिका अलग-अलग हो गई।

कामलता ब्राह्मणी भी मिथ्या विचार कर रही है कि, 'मेरा भाग्य ही ऐसा है, जिसमें अभी भी पापकृत्य लिखे हुए है।' यह मिथ्या भ्रमणा से वह पुनः चरवाहे के साथ घर बसा लेती है। उसकी मान्यता गलत है क्योंकि,

भाग्य का कार्य मात्र उचित-अनुचित संयोग बनाना है, किन्तु पाप करने का कार्य तो पुरुषार्थ से जुडा हुआ है।

भले ही चरवाहा मन को लालायित कर रहा है, किन्तु कामलता को स्वयं पाप करना या नहीं; वह उसके ही पुरुषार्थ की बात थी। परंतु वह असत्पुरुषार्थ से चरवाहे के साथ घर बसा लेती है।

हमें भी जीवन में यह भेद समज लेना है कि हमारे शुभाशुभ कर्म उचित-अनुचित संयोग बना देते है, किन्तु हमें उचित या अनुचित विचार करना, वचन बोलना या प्रवृत्ति करना; वह तो हमारे पुरुषार्थ की ही बात है।

यहाँ तीन बातें समझने योग्य है :

(१) काल-कर्म-भवितव्यता-स्वभाव और पुरुषार्थ उन सब की अलग-अलग विशेषता;

(२) और, 'पूर्व बताये गये बालकजन्म के दृष्टांत से' पाँचो का परस्पर सहकार,

(३) और, कहाँ किसकी विशेषता ज्यादा कार्य करती है, यह भी समझ लेना है।

इन तीनों बातों को सही तरीके से समझकर ध्यान में लिया जाये तो

(१) किसी भी सुख-दु:ख के प्रसंग में चित्त की समाधि रख सकते है। और,

(२) दुनिया की किसी भी घटना में बैचेनी नहीं होगी अर्थात् आर्तध्यान से बच सकेंगे। और,

(३) इसके आधार पर स्वयं के और संसार के अनुभव से तत्त्वचिंतन भी सुंदरता से होगा।

उदाहरण स्वरूप एक सवाल :

प्रश्न : वर्तमान में काल बलवान? कर्म बलवान? या पुरुषार्थ बलवान?

उत्तर : इस सवाल से यह तत्त्वचिंतन हो सकता है कि सभी अपनी-अपनी विशेषता से स्वयं बलवान है।

- काल ने प्रचुर महँगाई फैलाई है किन्तु,
- जीव के कर्म ने महँगाई से लडने हेतु या उससे हारने हेतु सामग्री प्रदान की है और,
- जीव का पुरुषार्थ स्वतंत्र है, तो इस काल में, इस सामग्री में पवित्र विचार-वाणी-वर्तन रखना चाहे तो रख सकते है।

यह काल आदि पाँचो कारणों की स्वतंत्रता उनकी विशेषता की दृष्टि से जानी। अत: उनमें कर्म की विशेषता अलग, पुरुषार्थ की विशेषता अलग, भवितव्यता की विशेषता अलग,... इस तरह जाना। किन्तु

दूसरे तरीके से भी इन कारणों की स्वतंत्रता है। वह इस प्रकार,

उदा. काल से स्वभाव का जन्म नहीं होता या स्वभाव से काल का जन्म नहीं होता। जीव का भव्यत्व या अभव्यत्व का स्वभाव अनादि से स्वतंत्र है, कहीं से जन्म प्राप्त करनेवाला नहीं। वैसे, अग्नि का ज्वलनशील स्वभाव, पानी का शीतल स्वभाव स्वतंत्र; वह काल से या भवितव्यता आदि से जन्म प्राप्त करनेवाले नहीं है।

वैसे, काल भी अन्य स्वभाव आदि किसी कारण से पैदा होनेवाला नहीं, परंतु स्वतंत्र है।

जैसे भव्यत्व स्वभाव स्वतंत्र होने से, अभव्य को कितने भी अच्छे कर्म से मानवभव प्राप्त होता है; और उसमें भी कर्म से देव-गुरु धर्मशासन का योग मिले, फिर भी वह योग जीव में भव्यत्व पैदा नहीं कर सकते। वह भव्यत्व तो अनादि का स्वतंत्र, जिसको होता है, उसी को होता है, जिसे नहीं होता, उसे कभी नहीं मिलता।

इसी प्रकार काल भी स्वतंत्र। वह स्वभाव आदि से पैदा नहीं होता। तीर्थंकर जैसे परमात्मा के जीव को भी चाहे कितना श्रेष्ठ भव्यत्व स्वभाव, परंतु वह भी चरम पुद्गलपरावर्त काल को खींच नहीं सकता, अर्थात् चरमावर्त को अकाल पैदा नहीं कर सकता।

वैसे ही अच्छे पुण्य कर्म या प्रखर चारित्र का पुरुषार्थ भी चरमावर्तकाल को अकाल पैदा नहीं कर सकता। वह तो क्रमशः पुद्गलपरावर्त काल व्यतीत होता है, तब अंतिम एक के अलावा तमाम पुद्गलपरावर्त काल बीतने के पश्चात् ही चरम पुद्गलपरावर्त काल यानि चरमावर्त काल शुरु होता है। वह काल का स्वातंत्र्य ही कहा जाता है।

कर्म का भी स्वातंत्र्य है। वह भी काल या स्वभाव से पैदा नहीं होता। वैसे ही भवितव्यता से भी पैदा नहीं होते। सवाल होगा,

प्रश्न : कहते है कि भवितव्यता से त्रैकालिक पर्याय तय हो जाते है; तो कर्म के पर्याय भी भवितव्यता से पैदा हुए है, यही माना जायेगा ना?

त्रैकालिक पर्याय का तूत मिथ्यावाद है :

उत्तर : यह कथन करनेवाले को 'भवितव्यता' पदार्थ की समझ ही नहीं है। वह बोलता है 'भवितव्यता', पर कहना है 'ज्ञानी की दृष्टि'। किन्तु वह भी इसमें सर्जक नहीं, बल्कि दर्शक है।

ज्ञानी की दृष्टि त्रैकालिक पर्याय की सर्जक नहीं, अपितु दर्शक है।

दर्पण में वर्षा का प्रतिबिंब दिखता है, तो कह सकते है कि, 'दर्पण जैसा दिखा रहा है, वैसी ही वर्षा बाहर गिर रही है।' परंतु इतनी-सी बात में दर्पण वर्षा का सर्जक नहीं माना जाता। दर्पण तो वर्षा जो स्वयं के कारण ही हुई, उसका दर्शक मात्र है।

वैसे ही केवलज्ञानी का ज्ञान त्रिकालविषयक है, तो ज्ञानी की दृष्टि में अर्थात् ज्ञान में त्रैकालिक यानि तीनों काल के पर्याय का दर्शन स्वाभाविक है, किन्तु इससे यह नहीं कह सकते कि, 'ज्ञानी की दृष्टि तो त्रैकालिक पर्याय के होने में कारणभूत है, त्रिकाली पर्याय को उत्पन्न करते है।' वह पर्याय तो स्वयोग्य कारण प्राप्त होने से उन कारणों के अनुसार उत्पन्न होते है; किन्तु यह नहीं है कि ज्ञानी की दृष्टि के अनुसार या उस प्रकार की ज्ञानी की दृष्टि के कारण उत्पन्न होते है। अन्यथा,

ज्ञानी की दृष्टि को सर्जक मानने में जुल्म होता है।

मान लो, कोई आत्मा सातवीं नरक में जानेवाला हो, तो यह कहना पडेगा कि, 'क्यों सातवीं नरक में घोर दुःख सहन करने पडेंगे?' तो जवाब है 'ज्ञानी की दृष्टि ही ऐसी थी।'

क्या यह कहना ठीक है? क्या ज्ञानी की दृष्टि सातवीं नरक की घोर पीडा प्रदान करनेवाली है? ज्ञानी यदि सातवीं नरक की भारी वेदना प्रदायक ज्ञान करते है, तो वह ज्ञानी कितने क्रूर साबित होंगे?

वास्तविकता से, सातवीं नरक प्रदायक तो जीव की स्वयं की पाप-लीला है। ज्ञानी के ज्ञान में मात्र उसका प्रतिबिंब ही होता है।

सारांश : ज्ञान देखता है उतना ही; किन्तु उसका सर्जन नहीं करता।

अत: जो आत्मा धर्म-उद्यम करने से मुक्त होने हेतु यह बहाना बनाते है कि, 'ज्ञानी ने हमारे भीतर धर्म-उद्यम नहीं देखा, अत: हम धर्म-उद्यम नहीं कर पा रहे, देखा होता तो क्यों ना होता?' यह बातें व्यर्थ है; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि धर्म-उद्यम की सर्जन नहीं, अपितु दर्शक है; वह धर्म-उद्यम हो तो प्रदर्शित मात्र करती है, धर्म-उद्यम तो उसके कारण से ही प्राप्त होता है।

धर्म-उद्यम के कारण में,

(१) प्रथम कारण धर्म की प्रशंसा-आकर्षण,
(२) दूसरा कारण धर्मश्रवण,
(३) तीसरा कारण धर्म की रुचि-इच्छा-अपेक्षा।

धर्म पर विशेष रुचि अर्थात् खानपान-व्यापार-विषय-लक्ष्मी आदि की भाँति आकर्षण ना हो, धर्म करने की इच्छा ही ना हो, अपेक्षा ही ना हो, तो फिर धर्मपुरुषार्थ भी कैसे होगा? खानपान-व्यापार आदि में वह आकर्षण-रुचि होते है, अत: उसका पुरुषार्थ त्वरित होता है। यहाँ ज्ञानी की दृष्टिवाला बहाना सार्थक नहीं होता ! यह तो ज्ञानी की दृष्टि की बात हुई। किन्तु,

भवितव्यता ज्ञानी की दृष्टि से भिन्न बात है।
भवितव्यता खास प्रकार की घटना घटित होने में कारणभूत है।

उदा. पार्श्वनाथ परमात्मा के जीव को भवों-भव तक कमठ के जीव का ही योग क्यों हुआ? क्योंकि, यही भवितव्यता थी। इसमें प्रभु के जीव के कर्म को कारणभूत नहीं कह सकते।

उनके अशुभ कर्म तो उनको अशाता प्रदान करने तक ही सीमित थे; किन्तु कर्म में यह नहीं लिखा था कि, 'कोई खास जीव के हाथों ही पीडा प्राप्त हो।' अशातावेदनीय कर्म का स्वभाव तो मात्र पीडा प्रदान करना है; अब वह पीडा किसी के हाथों प्राप्त हो या किसी वस्तु से प्राप्त हो, उसका कार्य मात्र पीडा देना ही है। कमठ से ही पीडा; इसमें भवितव्यता ही कारण है।

महावीर परमात्मा ने गोशालक को तेजोलेश्या का ज्ञान दिया। इसमें कारण क्या? अज्ञानदशा नहीं; प्रभु तो सदा जागृत ज्ञानी थे, उन्हें कोई अज्ञान दशा हो;

यह तो नहीं कह सकते। तब शास्त्र ने भवितव्यता को कारण कहा। भवितव्यता ही थी, जिसके कारण गोशालक ने प्रभु को पूछा और प्रभु ने तेजोलेश्या की विधि बताई।

सामान्य हिसाब यही कि जिस घटना के प्रति काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ जवाब नहीं दे सकते, वहाँ कारण भवितव्यता है।

इस तरह भवितव्यता भी स्वतंत्र पदार्थ है, किन्तु काल आदि का सर्जन नहीं, या उसका प्रकार नहीं।

कोई कारण अन्य में अंतर्भूत नहीं :

काल स्वतंत्र, स्वभाव स्वतंत्र, भवितव्यता स्वतंत्र, वैसे कर्म भी स्वतंत्र है। कोई कार्य हो, उसमें जैसे काल स्वतंत्रता से कार्य करता है, स्वभाव स्वतंत्रता से कार्य करता है, वैसे कर्म भी स्वतंत्रता से और पुरुषार्थ भी स्वतंत्रता से कार्य करता है। भले ही वह सब एकदूसरे को सहायक बनते है, किन्तु एकदूसरे में समाविष्ट हो कर नहीं। कोई कारण अन्य में अंतर्भूत नहीं।

जीव गर्भ में नौ माह तक तैयार हुआ, उसमें उसके कर्म आदि कारण है, किन्तु काल भी एक कारण है। अत: काल प्राप्त होते ही गर्भ पक्व हो जाता है। यह काल कर्म में समाविष्ट नहीं होता; काल स्वतंत्र है।

वैसे ही गर्भ रूपवंत या कुरूप, योग्य या अयोग्य बना उसमें कर्म की भूमिका रहती है, कर्म द्वारा प्रदत्त सामग्री की भूमिका है। तो यह कर्म भी काल आदि का प्रकार नहीं है; स्वतंत्र पदार्थ है। सवाल होगा :

प्रश्न : कर्म तो पुरुषार्थ से पैदा होता है, तो कर्म स्वतंत्र कैसे?

उत्तर : कर्म पैदा होते है, तब भले ही पुरुषार्थ से पैदा हुए, किन्तु अब वही कर्म वर्तमान में कार्य के प्रति स्वतंत्रता से अपनी भूमिका अदा कर रहे है। कार्य के प्रति जैसे काल स्वतंत्रता से अपनी भूमिका निभा रहे है, पुरुषार्थ स्वतंत्रता से भूमिका निभा रहे है, वैसे ही कर्म भी स्वतंत्रता से अपनी भूमिका निभा रहे है।

यह नहीं होता कि कार्य होते समय पुरुषार्थ ने तत्प्रकार के कर्म पैदा कर दिये या कर्म ने तत्प्रकार के पुरुषार्थ को पैदा कर दिये; जो उस भूमिका को अदा करवा रहे है। नहीं, ऐसा नहीं है। कर्म तो पूर्वोपार्जित ही थे और आत्मा का पुरुषार्थ नया बनता रहता है। यह दोनों मिलकर कार्य के प्रति भूमिका अदा कर रहे है।

गौण–मुख्य कारण :

बनता यह है कि कभी काल मुख्य कारण और अन्य गौण; तो कभी स्वभाव मुख्य कारण और अन्य गौण; तो कभी स्वभाव मुख्य कारण और अन्य गौण; इस तरह पाँच कारणों में सभी अलग–अलग स्थान पर मुख्य या गौण कारण बनते है। उदा.

- एक आत्मा मोक्ष जाता है, तब एक आत्मा अनादि निगोद से बाहर निकलता है। परंतु कौन–सा जीव बाहर निकलेगा? तो जिसकी भवितव्यता बलवान होगी वह प्रथम बाहर निकलता है। इस प्रकार यहाँ **भवितव्यता** मुख्य कारण बनी।

- बाहर आनेवाले जीवों में कोई जीव चरमपुद्गल परावर्त काल देख पाता है, तो कोई नहीं देख पाता, तो यहाँ स्वभाव मुख्य कारण। भव्यत्व स्वभाववाले को चरमावर्त काल प्राप्त होता है; अभव्यत्व स्वभाववाले को नहीं, तो यहाँ **स्वभाव** मुख्य कारण। अभव्य को कभी मोक्ष ही नहीं, कभी संसार का ही अंत नहीं, तो उसे संसार का अंतिम आवर्तकाल कैसे होगा?

- भव्य जीव को भी चरमपुद्गल परावर्त काल क्रमशः ही प्राप्त होता है, किन्तु किसी कर्म या पुरुषार्थ की वजह से जल्दी प्राप्त नहीं होता। चरम के अलावा पुद्गल परावर्त क्रमशः बीतने के बाद चरम की प्राप्ति होती है। यहाँ **काल** मुख्य कारण हुआ। जैसेकि मुद्दत का बुखार मुद्दत को जाता है, अतः यहाँ मुद्दत अर्थात् काल ही कार्य करता है।

- चरमावर्त में भी भव्य जीव मनुष्यगति से ही मोक्ष प्राप्त करता है, अन्य गति से नहीं। अर्थात् मोक्ष के प्रति मनुष्यगति ही कारणभूत है। मनुष्यगति

अर्थात् उसके योग्य कर्म का उदय। इस तरह मोक्षमार्ग की आराधना हेतु यह कारण बना।

- आत्मा चाहे कितना भी उत्तम हो, किन्तु अन्य गति में हो, तो उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की आराधना तो नहीं कर सकता। यह तो मनुष्यगति का ही वरदान है। अत: यहाँ मनुष्यगति का कर्म उपयोगी बना। उसमें भी आराधना प्रदान करनेवाले देव-गुरु का योग भी शुभ कर्म के बल से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार **कर्म** की प्रधानता हुई।

पुरुषार्थ स्वतंत्र कारण क्यों?

सवाल होगा कि मनुष्यगति को प्राप्त करनेवाले और देव-गुरु का योग प्राप्त करनेवाले भी तमाम जीव मोक्षमार्ग की आराधना तो नहीं करते, तो यहाँ क्या कारण है?

यहाँ समाधान पुरुषार्थ देता है। कर्म तो जीव को आराधना हेतु अनुकूल परिस्थिति ही प्रदान करता है; किन्तु पश्चात् उसका सदुपयोग करके आराधना करना तो जीव के पुरुषार्थ के आधीन है, प्रयत्न के आधीन है।

जीव के पास स्वतंत्र वीर्यशक्ति है, उस वीर्य का उपयोग करना यानि पुरुषार्थ। वह होने पर ही आराधना होती है।

उदा. जैसे किसी बालक को उसकी माता ज्यादा से ज्यादा गुड की तरह नरम निवाला बनाकर उसके मुँह में रखने तक का ही कार्य कर सकती है, किन्तु उसे चबाकर गले से उतारने का कार्य तो, बालक के पुरुषार्थ करने पर ही होगा।

प्रश्न : क्यों? माता बालक की नाक को दबाती है, तो वह निवाला गले से उतर ही जायेगा ना?

उत्तर : किन्तु मुँह में निवाला रखने के बाद तुरंत बालक का आयुष्य पूर्ण हो, प्राणों का त्याग कर दे, तो क्या तब नाक दबाने से वह निवाला गले में जायेगा? नहीं, क्यों? क्योंकि नाक पकडने से उसकी सांस में रुकावट होगी, अत: बालक अपने मुँह से सांस लेने का पुरुषार्थ

करता है, निवाला गले में उतारने में बालक का पुरुषार्थ होने पर ही निवाला गले में उतरता है; किन्तु मृत्यु होने से जीव ही नहीं है तो पुरुषार्थ कौन करेगा? वहाँ पुरुषार्थ नहीं होगा, अत: नाक दबाने पर भी निवाला गले से नीचे नहीं उतरता। इस बात से ज्ञात होता है कि,

कर्म अनुकूल सामग्री प्रदान करता है, किन्तु आगे शुभ-अशुभ कार्य करने का आधार तो जीव के पुरुषार्थ पर ही है। इस प्रकार कह सकते है कि,

- अंतिम पुद्गल परावर्त में कर्म जीव को मनुष्यगति, दीर्घायुष्य, पाँचो इन्द्रिय सशक्त, आरोग्य, उत्तम कुल और देव-गुरु-धर्म के संयोग तक प्रदान करता है, किन्तु तत्पश्चात् धर्मश्रवण-श्रद्धा-आराधना तो जीव के **पुरुषार्थ** से ही होते है। यह कार्य कर्म नहीं करता।
- आठ कर्म में ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसके उदय से पुरुषार्थ पैदा हो। पुरुषार्थ तो आत्मा के वीर्य का स्फुरण है। जीव को वीर्य का उपयोग करना हो तो करता है, ना करना हो तो नहीं करता। इस विषय में वह स्वतंत्र है।

तभी तो इन्सान अपने कट्टर विरोधी के पास कार्यवश जाता है, तब वह भोजन हेतु लाख बार आमंत्रित करे, फिर भी वह इन्सान अगर वहाँ भोजन करना ना चाहे, तो भोजन का पुरुषार्थ नहीं करता।

प्रश्न : किन्तु वहाँ विरोधी कोई बडी लालच बतायें, तो भोजन कर भी लेता है, तो कर्म ने पुरुषार्थ करवाया, यह कह सकते है ना?

उत्तर : नहीं, कर्म ने तो लालच ही दिखाया, किन्तु उसमें लालायित हो कर भोजन करने का कार्य तो जीव के पुरुषार्थ करने पर ही होता है। इससे साबित होता है कि पुरुषार्थ स्वतंत्र कारण है। जीव को लालायित ना होना हो, तो वह कोई पुरुषार्थ नहीं करेगा।

इस बात से समझ सकते है कि जो लोग 'धर्म क्यों नहीं करते?' इस सवाल में बहाना बनाते है कि 'हमारे भाग्य का उदय नहीं,' यह व्यर्थ है; क्योंकि उन्हें स्वयं को प्राप्त हुआ स्वतंत्र पुरुषार्थ का उपयोग धर्म में नहीं करना और संसारी कार्य में उपयोग करना हो, तो वह कार्य हो जाते है।

इस प्रकार धर्म भी पुरुषार्थ करना हो तभी होता है, और नहीं करना है तब नहीं होता। अरे !

धर्म की बुद्धि भी पुरुषार्थ से होती है, कर्म से नहीं।

वह इस प्रकार,

हृदय में पाप का भाव पापकर्म यानि मोहनीयकर्म से होता है। वह कर्म हृदय में पापी भाव रागादि जागृत करते है। परंतु उसके कारण पाप करने की बुद्धि अर्थात् विचारणा जीव उसका पुरुषार्थ करे तभी होती है।

काया की प्रवृत्ति और वाणी की प्रवृत्ति जैसे पुरुषार्थ से, वैसे मन की प्रवृत्तिरूप विचारणा भी पुरुषार्थ से होती है।

अत: धर्मात्मा जीव को कर्मवश पाप का भाव पैदा हुआ, तब भी वह यदि अधिक पापविचार नहीं करता, वह तुरंत शास्त्र पदार्थों के-तत्त्व के विचार का या अंत में कुछ प्रमाण में नवकारमंत्र का ध्यानपूर्वक जाप करने का पुरुषार्थ करता है, तो पापविचार से पीछे हट जाता है। फिर उसी पुरुषार्थ से वह उत्तम प्रवृत्तिओं में लगकर काया से पापकार्य को रोक देता है। क्या यह अनुभव नहीं है?

मान लो कोई उद्‌भट वेशधारी अतिशय रूपवान स्त्री दृष्टिगोचर हुई और अचानक क्षणभर खराब भाव हुआ, किन्तु तुरंत सत्पुरुषार्थ से यह विचार किया कि, 'अरे ! मुझे ऐसा दुष्ट भाव कैसे? क्या मैं पागल-मवाली-बदमाश हूँ?' यह सोचकर अन्य विचार में प्रवृत्त हो जाने से पापविचार और पापप्रवृत्ति रुक जाती है ना?

यह किसने किया? कर्म ने? कर्म ने तो पापभाव भी प्रगट किया था तो वह पापविचार, पापप्रवृत्ति क्यों रोकेगा? तो, जीव के पुरुषार्थ ने ही वह रोकने का कार्य किया।

यही साबित करता है कि पाप का भाव कर्म को उत्पन्न करता है, किन्तु पश्चात् विचार-वाणी-वर्तन तो पुरुषार्थ ही पैदा करता है; वह जीव को आधीन है, जीव यदि असत् पुरुषार्थ करता है, तो पापविचार, पापवाणी

और पापवर्तन होता है; और यदि सत्पुरुषार्थ करता है, तो पवित्रविचार, पवित्रवाणी, पवित्रवर्तन होता है।

अब यह मत कहना कि,

भले ही धर्मविचार पुरुषार्थ से हो, किन्तु पापविचार तो कर्म से होता है ना? नहीं, वह भी पुरुषार्थ से ही होता है।

कारण यह है कि, विचार क्या है? मन की प्रवृत्ति। जैसे वचन जिह्वा की प्रवृत्ति है, वर्तन काया की प्रवृत्ति है, वैसे विचार मन की प्रवृत्ति है।

यहाँ यह जानना है, कर्म क्या कार्य करता है? कर्म कार्य कर सके ऐसी काया प्रदान करता है, बोलने हेतु जिह्वा प्रदान करता है, वैसे विचार कर सके ऐसा मन प्रदान करना कर्म का कार्य है।

उस काया-जिह्वा-मन की शक्ति से कार्य करना जीव के हाथ में है; अर्थात् काया से प्रवृत्ति करना, जिह्वा से कुछ बोलना और मन से विचार करना कौन करता है? जीव का पुरुषार्थ करता है।

जीव को धरार असत् पुरुषार्थ ही करना हो, तो वह मन-जिह्वा-काया से पापी विचार-वचन-वर्तन ही प्रगट करेगा। जबकि धर्मी जीव को सत् पुरुषार्थ करना है, तो वह पवित्र विचार-वाणी-वर्तन ही करेगा।

तभी तो शास्त्रों में कहा गया है कि, 'क्रोधादि मोहनीय कर्म का उदय आत्मा में क्रोधादि का भाव जागृत करते है, किन्तु उन भाव को, उदय को निष्फल करना तो आपके ही हाथ में है। आप विवेक से क्रोधादि के भयंकर नुकसान देखकर क्रोधादि के विचार-वाणी-वर्तन ना करो, अर्थात् वह पुरुषार्थ रोक दो, तो वह भाव और वह कर्म के उदय निष्फल होंगे।'

तो सोचों कि यदि पुरुषार्थ कर्म से अलग एक स्वतंत्र कार्यकर तत्त्व ना होता, तो यह कैसे संभव होता? यहाँ पूछ सकते है,

नंदीषेण को पाप में किसने आसक्त किया? :

प्रश्न : तो यह क्यों कहा जाता है कि नंदीषेण मुनि को कर्म ने पतित किया? कर्म ने वैश्या के संग रंगराग करवाये?

उत्तर : वह सामान्य स्वरूप से कहा जाता है। तत्त्व का विवेक करने पर ज्ञात होगा कि कर्म ने उन्हें भोग का भाव जागृत करवाया इतना ही, किन्तु वह इतना प्रबल था कि उसके सामने सत् पुरुषार्थ का उपयोग ना कर पाये। परंतु वहाँ जो भी पाप के विचार किये, वैश्या के साथ मोह की पापकथा की और काया से विलासी प्रवृत्ति की; वह तमाम आत्मा की पुरुषार्थ शक्ति से।

पुनः याद करो : **कर्म पाप के भाव प्रदान करता है, पाप या धर्म करने हेतु सशक्त मन-जिह्वा और काया प्रदान करता है; किन्तु उन्हें पाप या धर्म में प्रवृत्तशील करने हेतु धकेलता नहीं। वह तो जीव का पुरुषार्थ ही कर सकता है।**

यदि कर्म मन-जिह्वा-काया को प्रवृत्ति करवा रहा होता, तो मोक्ष प्राप्ति तक प्रवृत्ति करवाकर मोक्ष में भी कर्म ही पहुँचा देता ना? किन्तु नहीं, मोक्ष तो कर्म के सर्वथा नाश से ही प्राप्त होता है, तो उन तमाम कर्मों का नाश करने हेतु मन-वचन-काया की प्रवृत्ति कौन करवाता है? आत्मा का पुरुषार्थ ही ना?

और उससे विपरीत दुर्गति में भ्रमण करवानेवाले कर्मों का ढेर करने की प्रवृत्ति कौन करवाता है? आसान जवाब है : आत्मा का अशुभ पुरुषार्थ ही।

कर्म तो पुरुषार्थ करने योग्य सशक्त मन-जिह्वा-काया प्रदान करने का ही कार्य करता है, परंतु उनके द्वारा कैसी प्रवृत्ति करना; वह कार्य है आत्मा के योग्य-अयोग्य पुरुषार्थ का।

इस तरह कर्म और पुरुषार्थ का विवेक करने पर, दोनों को भिन्न स्वतंत्र समझने पर आत्मा में यह सत्त्व प्रगट होगा कि, 'कर्म भले मुझे कैसे भी विपरीत संयोग प्रदान करें, किन्तु सत् पुरुषार्थ करने हेतु मैं स्वतंत्र हूँ, उसी पुरुषार्थ से उत्तम विचारधारा को अपनाना, उत्तम निष्पाप सौम्य वाणी का प्रकाश करना और पवित्र धर्मप्रवृत्ति करना; इन तमाम कार्य में मैं स्वतंत्र हूँ।'

'भले कर्म मुझे राग-द्वेष के या काम-क्रोध-लोभ-मद के भाव प्रदान करें,

किन्तु उन राग-द्वेष-काम-कषाय के विचार को वेगवंत बनाना, या शब्द बोलना, उसका आधार मेरी प्रवृत्ति पर, मेरे पुरुषार्थ पर है। मैं वह पुरुषार्थ ही ना करूँ और उससे विपरीत उत्तम पवित्र विचार-वाणी का पुरुषार्थ-प्रवृत्ति ही अपनाऊँ, तो वह असत् प्रवृत्ति स्थंभित हो ही जायेगी।'

यह सत्त्व प्राप्त करने के पश्चात् कर्म को भी भारी पड जाये ऐसा सुंदर पुरुषार्थ होगा। तब समझना कि,

पुरुषार्थ की कैसी प्रचंड ताकात है, जो कर्म द्वारा प्रदत्त अशुभ भावनाओं को भी तोड देता है ! रागादि के कर्म को निष्फल बनाता है !

यह मत समझना कि महापुरुष और महर्षिओं को वह रागादि के कर्म नहीं होते। सुरासुरेन्द्र पूज्य भगवान महावीरस्वामी जैसे महात्माओं को भी दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वह रागादि मोहनीय के कर्म थे। ना होते तो, दीक्षा के पश्चात् तुरंत ही वीतराग और केवलज्ञानी सर्वज्ञ बन गये होते। किन्तु दीक्षा के पश्चात् साढे बारह वर्ष काल व्यतीत होने के बाद वीतराग बने, इससे यह ज्ञात होता है कि तब तक परमात्मा को भी रागादि कर्म के उदय से रागादिभाव प्रवर्तमान थे। तो सवाल होगा कि,

प्रश्न : तो प्रभु ने रागादि को कैसे जीता?

उत्तर : जवाब यही है कि, प्रभु ने उन रागादि-भावों को अनुकूल रागादि के विचार-वाणी-वर्तन का पुरुषार्थ ही छोड दिया था। रागादि का भाव कर्म के पक्ष से, किन्तु पुरुषार्थ आत्मा के पक्ष से। प्रभु ने उन अशुभ पुरुषार्थ को बंद रखकर;

- तत्त्वविचार-तत्त्वचिंतन का ही और उपशम की विचारधारा का ही पुरुषार्थ प्रवर्तमान रखा,
- वचन से तो लगभग मौन ही रखा,
- और काया का पुरुषार्थ समिति-गुप्ति और अहिंसा-संयम-तप का ही रखा।

अब ऐसे समय में रागादि का भाव तो निष्फल ही होगा ना?

इन्द्र भी शाता पूछने या कोई मरणांत कष्ट का निवारण करने आये, तब भी उनके प्रति राग के विचार नहीं; और दुष्ट देवता भी भयंकर दुःख देने आये, तो उनके प्रति भी द्वेष का लेशमात्र विचार नहीं; बल्कि दोनों के प्रति उपशम-उदासीनभाव।

यह कैसे हुआ? प्रभु के कर्म से नहीं, किन्तु प्रभु के पुरुषार्थ से हुआ। इस प्रकार सतत कर्म को पुरुषार्थ से तोडते हुए साढे बारह वर्ष और पंद्रह दिवस के अंत में विराट स्वरूप, शुक्लध्यान के पुरुषार्थ का स्वरूप प्रगट किया, कि तब जो भी मोहनीय कर्म बाकी थे, वह तमाम नष्ट हो गये और प्रभु वीतराग बने। फिर तो क्या बाकी था? अंतर्मुहूर्त में ही ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अंतराय कर्म सर्वथा नष्ट हो गये और केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

सोचों, पुरुषार्थ की कैसी प्रचंड शक्ति ! क्या वह पुरुषार्थ कर्म के आधीन कार्यरत था अर्थात् 'कर्म जो कराये, वह पुरुषार्थ करता' ऐसा होता, तो क्या यह हो सकता? अतः,

पुरुषार्थ तो कर्म से भी बलवान स्वतंत्र कारण है।

काल, स्वभाव, भवितव्यता, कर्म और पुरुषार्थ; इन पाँचो में सभी का स्वातंत्र्य समझने पर यह मिथ्याभाषण नहीं होंगे कि,

- 'भवितव्यता में त्रैकालिक पर्याय लिखे गये है।'
- 'धर्म का पुरुषार्थ कर्म में लिखा हुआ हो, तो ही होता है।'
- 'काल होने पर ही पुरुषार्थ होता है।'
- 'भवितव्यता बलवान हो, तो ही पुरुषार्थ होता है। हमें धर्म का पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता, अतः यही साबित होता है कि भवितव्यता बलवान नहीं है।'
- 'कर्म तो जड द्रव्य है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य पर कोई उपकार-अपकार नहीं कर सकता। अतः चेतन-आत्मद्रव्य के पुरुषार्थ को कर्म आदि जड द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं है।'

यह सब मिथ्या भाषण है, जैनमत के नहीं, किन्तु जैनेतर मिथ्यामत के भाषण है। अब पूछो,

मिथ्याभाषण और उसकी व्यर्थता :

उपरोक्त भाषण मिथ्या कैसे?

(१) 'भवितव्यता त्रिकाल पर्याय निश्चित' यह मिथ्यावाद क्यों? :

'भवितव्यता में त्रिकाल पर्याय निश्चित हो जाते है,' यह भाषण गोशालक के आजीवक मत का मिथ्या भवितव्यतावाद से है। वह मिथ्या इस प्रकार कि,

त्रिकाली पर्याय में कर्मवर्गणा के कर्मपर्याय भी होते है और आत्मा के सत्-असत् पुरुषार्थ पर्याय भी होते है। तो क्या यह तमाम पर्याय का सर्जन भवितव्यता करती है?

कर्मपर्याय, क्या जीव जो-जो मिथ्यात्व-अविरति-कषायादि का सेवन करता है, तदनुसार ही निर्माण होता है, या मात्र भवितव्यतानुसार निर्माण होता है?

वैसे, पुरुषार्थ भी आत्मा करता है, तदनुसार होता है, या मात्र भवितव्यतानुसार होता है?

यदि भवितव्यतानुसार ही कर्मपर्याय होते है, तो मिथ्यात्व-अविरति-कषायादि को शास्त्र कर्मबंध के कारण कहते है; वह गलत साबित होगा !

और, प्रभु ने जो सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग की स्थापना करके, उसका पुरुषार्थ करने को कहा, वह भी व्यर्थ साबित होगा और मार्गस्थापना भी निरर्थक होगी ! क्योंकि पुरुषार्थ से तो कुछ प्राप्त होता ही नहीं ! तो प्रभु ने भवितव्यता को समझे बिना नासमझी से मोक्षमार्ग की स्थापना की है, क्या यह कहना है?

किन्तु यह सब कहना तो बिलकुल मिथ्या है। पाँच स्वतंत्र कारण की बिलकुल नासमझी से पैदा होनेवाले यह मिथ्या भाषण है। भवितव्यता को जैसे स्वतंत्र स्थान है, वैसे कर्म और पुरुषार्थ को भी स्वतंत्र-स्वतंत्र स्थान है। मात्र भवितव्यता को ही बलवान माना जायेगा, तो अन्य कोई काल-स्वभाव आदि कारण ही नहीं रहेंगे। फिर तो,

- दहीं का कारण दूध नहीं, भवितव्यता कारण !
- भोजन का कारण अग्नि और बनानेवाला नहीं, किन्तु भवितव्यता कारण !
- पेट की तृप्ति का कारण भोजन नहीं, बल्कि भवितव्यता कारण !

क्योंकि भवितव्यता से तमाम पर्याय तय हो चुके है !

तो तर्क यही बनेगा कि,
- दहीं का अर्थी दूध ले कर उसमें मिश्रण डाले, तो वह मूर्ख !
- भोजन का अर्थी अग्नि और बनानेवाले को देखे तो वह मूर्ख !
- तृप्ति का अभिलाषी भोजन को ग्रहण करे तो वह मूर्ख !
- स्वयं भवितव्यता का यह मिथ्या सिद्धांत बोलनेवाला यह बोलता है वह भी मूर्ख !

क्योंकि वह क्यों बोलता है? अज्ञानी जीवों को समझाने हेतु। किन्तु उन जीवों को समझाने का पर्याय तो भवितव्यता में लिखा हुआ होगा, तो समझेंगे, नहीं लिखा होगा तो नहीं समझेंगे। आपके द्वारा समझाया जानेवाला समझेगा? यदि हाँ, तो यहाँ भवितव्यता व्यर्थ साबित हुई, उससे भी ज्यादा बलवान आप बन गये, आपके समझाने का पुरुषार्थ बलवान हुआ।

सारांश, 'भवितव्यता में त्रिकाली सर्व पर्याय लिखे गये है, अत: पर्याय में भवितव्यता ही कारण है,' यह मिथ्या-मूढ-अज्ञानतासभर जैनेतर सिद्धांत है, मिथ्या प्रलाप है। काल, स्वभाव आदि पाँच कारणों के जैनसिद्धांत का घातक अपलाप है।

(२) 'धर्मपुरुषार्थ कर्म में लिखा हो, तभी होता है' यह मिथ्यावाद क्यों? :

अब जानते है कि, जब धर्म करने की बात हो तब मानव कहता है, 'भाग्य में लिखा होगा, तब धर्म का पुरुषार्थ होगा' यह क्यों गलत है?

प्रथम इस बात से इतना तो स्पष्ट हो गया कि संसार के पापकार्य करते वक्त यह सिद्धांत नहीं लगाया जाता कि 'भाग्य में होगा, तब यह पापकार्य होगा,' नहीं, 'यह तो मैं करूँगा, तभी होगा' यह समझकर भाग्य को देखे बिना ही पापकार्य में प्रवृत्त हो जाता है, पुरुषार्थ करता है। इस प्रकार 'पुरुषार्थ भाग्य में हो, तभी हो सकता है' यह सिद्धांत ही गलत साबित हुआ।

दूसरी बात यह है कि भाग्य अर्थात् कर्म। किन्तु त्याग-तप-दया-दान-शील आदि धर्म करवानेवाला कर्म आठों कर्म में से कोई भी नहीं है। जैसे पाप करना पुरुषार्थ से होता है, वैसे धर्म करना भी पुरुषार्थ से ही होता है। मात्र, धर्म के लिये वह रुचि नहीं है, धर्म की जरुरत नहीं दिखती। फिर क्यों शक्ति होने के बावजुद धर्म का पुरुषार्थ करेगा?

और, श्री महावीर प्रभु ने उच्च कोटि का धर्म किया, वह कौन से उच्च पुण्यकर्म से किया? क्या कोई है ऐसा उच्च पुण्यकर्म जो उत्कृष्ट संयम का पालन करवाये? घोर तप कराये? घोर परीषह-उपसर्ग शांति से सहन करवाये? नहीं, इससे विपरीत; रागादि मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण कर्म, वीर्यांतराय कर्म को कमजोर बनाने पर घोर तप-संयम और उपसर्ग-परीषह सहन हो सकते है।

यही बात साबित करती है कि धर्म के भावों को रोकनेवाले कर्म है, जागृत करनेवाले कर्म नहीं। वह तो सुंदर भावना आदि के पुरुषार्थ के माध्यम से कर्म तोडने पर धर्म के भाव जागृत होते है।

- **कर्म का कार्य पाप का भाव जागृत करना है।**
- **सत्पुरुषार्थ का कार्य उन कर्मों को तोडकर धर्म का भाव जागृत करना है।**

८ कर्म की पहचान : अघाती कर्म का मन पर प्रवर्तन नहीं :

यह बात आठ कर्मों की सही पहचान करने से ठीक तरह से ज्ञात होगी। आठ कर्म में दो विभाग है। चार घातीकर्म, चार अघातीकर्म। 'घाती कर्म' यानि परमात्मभाव का अर्थात् आत्मा के शुद्ध ज्ञानादि चैतन्य का आंशिक या सर्वथा घात करनेवाले। वैसे नहीं, वह है 'अघाती कर्म।'

अघाती कर्म में,

(१) शाता-अशाता वेदनीय कर्म,
(२) चार गति के आयुष्य कर्म,
(३) ऊँच-नीच गोत्र कर्म, और
(४) शुभ-अशुभ नामकर्म।

इन चारों कर्म को देखने पर ज्ञात होगा कि उनमें से एक भी कर्म हृदय में शुभ-अशुभ भाव जागृत करनेवाला नहीं है।

- वेदनीय कर्म शरीर-इन्द्रियों में शाता या अशाता का वेदन मात्र देता है, किन्तु उसमें मन कैसा रखना है, उत्तम भाव सहित या मलिन भाव सहित, हर्षित या रुदित या उदासीन, उन पर उस कर्म का कोई प्रवर्तन नहीं।
- वैसे, आयुष्यकर्म तत् गति का जीवन बनाये इतना ही।
- गोत्रकर्म उच्चकुल या नीचकुल प्रदान करे इतना ही।
- नामकर्म योग्य-अयोग्य शरीर, रूप-रसादि, इन्द्रिय, यश-अपयश, सौभाग्य-दुर्भाग्य आदि प्रदान करे इतना ही।

इन चारों का भी मन पर ऐसा प्रभाव नहीं है कि मन में उत्तम-पवित्र भाव ही पैदा करे या मलिन-अपवित्र भाव ही पैदा करे।

मन में भाव जागृत करनेवाले तो घातीकर्म है।

- ज्ञानावरण कर्म आत्मा में अज्ञानभाव पैदा करते है।
- दर्शनावरण कर्म अ-दर्शन और निद्रा प्रदान करता है। निद्रा अर्थात् मन में रहे ज्ञान के भाव का सर्वथा लोप।
- अंतरायकर्म में दानांतराय कृपणता का भाव प्रदान करता है। लाभांतराय दुन्यवी वस्तु की प्राप्ति को रोकता है। भोग-उपयोग अंतराय वस्तु प्राप्त होने के बावजुद उपयोग ना होने दे; ऐसी कोई पराधीनता का सृजन करता है। वीर्यांतराय वीर्य-उत्साह को स्थगित करता है।
- दर्शन-मोहनीय कर्म मिथ्याभाव-कुमति-मिथ्यात्व प्रदान करता है। चारित्र मोहनीय कर्म राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ, मद-माया, हर्ष-दु:ख, भय-शोक इत्यादि मलिन भाव देता है।

तो पूछो,

प्रश्न : यदि राग-द्वेष मलिन भाव है, तो क्या प्रभु पर राग हो, पाप पर द्वेष हो; वह भी मलिन भाव है?

उत्तर : नहीं, उत्तम भाव है, परंतु क्यों उत्तम है; वह जानते हो? उसकी जात उत्तम है इसलिए नहीं, किन्तु वैराग्य-सम्यग्दर्शन की उस पर छाया है, अत: उत्तम है।

- वैसे तो 'परमात्मा संपत्ति प्रदान करते है, विषयसुख प्रदान करते है, अत: परमात्मा के प्रति राग होता है' यह राग उत्तम नहीं है, मलिन ही है। क्योंकि उस पर वैराग्य की कोई छाया नहीं है।

- इस प्रकार, व्यापार में चोरी के पाप से द्वेष हो, चोरी पसंद ना हो, परंतु वह इसलिए कि ग्राहकवर्ग ना टूटे, आमदनी में नुकसान ना हो, तो वह पापद्वेष गुणरूप नहीं, मलिन ही है।

सारांश, राग-द्वेष आदि भावों स्वरूप से मलिनभाव है, किन्तु वैराग्य-सम्यग्दर्शन की छाया से प्रशस्त बनते है। इस बात से ज्ञात होगा कि,

मन के मैले अशुभ भाव जागृत करनेवाला मोहनीय कर्म है,

मोहनीय कर्म आठों कर्मों में राजा है, क्योंकि वह सात कर्मों के फल को पोषण में प्रवृत्त करता है। उदा.

- ज्ञानावरण से अज्ञान प्राप्त हुआ, किन्तु यदि वहाँ मोहनीय का साथ है, तो अज्ञानतावश या तो खेद, दीनता आदि करेगा, या 'चलों; अच्छा है हम पढे नहीं, तो कोई हमें 'यह पढाओ, वह पढाओ,' इस प्रकार परेशान तो नहीं करेगा,' यह मानकर खुश होगा। यह मोह का पोषण है।

- वैसे, निद्रा अच्छी आई, तो खुशी, या कार्य बरबाद हो गया, गाडी छूट गई तो खेद, दु:ख होगा; यह भी मोह का पोषण।

- वैसे, शाता पर खुशी, अभिमान, उत्तम भोजन की लालसा, व्यापार में लयलीनता, विषयों में उन्माद आदि अनेक मोह के पोषण होते है। किन्तु यदि अशाता होगी तो खेद, कल्पांत, उत्तम भोग-उपभोग ना होने के उद्वेग आदि मोह के पोषण।

- वैसे ही, उच्चकुल-नीचकुल भी अनेक प्रकार के क्रोध-मान-माया-लोभ आदि का पोषण करते है।

- और, आयुष्य प्राप्त होने पर 'जिंदा हूँ, तो क्यों डरकर जीये या अन्य के वश में जीना' ऐसे भाव पर भी मोह का ही पोषण होता है।
- और, नामकर्म में योग्य की प्राप्ति हो या अयोग्य की प्राप्ति हो; दोनों एक या दूसरे प्रकार के मोह का पोषण करते है।
- दानांतराय कर्म का फल कृपणता भी मोह का पोषण इस तरह करता है कि उससे धनसंग्रह का लोभ-ममता में वृद्धि होगी, या अन्य के दान देखकर खेद-जलन-ईर्ष्या होगी।

सारांश : मोहनीय कर्म का जोर अन्य कर्मों के फल को अपने पोषण में खींचता है।

इससे विपरीत, यदि मोहनीय कर्म को दबाया जाये, अर्थात् वैराग्यभाव, देव-गुरु-धर्मश्रद्धा, तत्त्वदृष्टि, सम्यग्दर्शन, कषायों का उपशमभाव अर्थात् क्षमादि का विकास किया जाये, तो यह उन सातों कर्मों के फल को अपने पोषण में खींच लेगा।

जैसेकि ज्ञानावरण प्रबल होने से मेहनत करने के बावजुद ज्ञानप्राप्ति नहीं हो रही, अज्ञानता रहती है, किन्तु यदि साथ में तत्त्वदृष्टि बनी रही, तो विचार होगा कि, 'यह मेरे ज्ञानावरण कर्म का ही फल है, इन कर्मों का उपार्जन मैंने ही किया है, अत: मेरी ही पूर्वकृत भूल का परिणाम है, तो अब उसको भुगतने में खेद क्यों?' इस प्रकार समता भाव रखकर अब पूर्व की भाँति नई भूल ना करने हेतु सावधान बनेगा। यह परिणाम किसका? मोह को शांत रखकर तत्त्वदृष्टि का उपयोग करने का परिणाम।

सवाल यह है कि, मोहनीय कर्म को शांत कैसे किया जाये?

यहाँ पुरुषार्थ की स्वतंत्रता प्रकाशित होती है।

- मोहनीय कर्म मन के भाव को बिगाडता है, मलिनभाव पैदा करता है।
- जबकि पुरुषार्थ मन में शुभ भाव पैदा करता है।

उदा. मोहनीय कर्म मन में क्रोध पैदा करता है, किन्तु उसके सन्मुख क्रोध के नुकसान, महान पुरुषों ने कैसी भयानक कठीनाईयों में भी क्रोध नहीं किया,

इत्यादि भावना का मानसिक पुरुषार्थ करने पर, क्रोध को शांत करके क्षमा का-समता का भाव बनाया जा सकता है। यही बात अन्य मोहनीय कर्म के विषय में जानना।

बस, बात यही है कि कर्म स्वतंत्र कारण है, वैसे पुरुषार्थ भी स्वतंत्र कारण है, क्योंकि दोनों के कार्य विभिन्न है; वैसे कर्म पूर्व से प्राप्त है, पुरुषार्थ आत्मा को यहाँ स्वयं नया करना है। तत्समय यदि विवेक रखा गया, तो सत् पुरुषार्थ होगा और अविवेक रखा, तो असत् पुरुषार्थ अर्थात् गलत विचार-भाषण-वर्तन होगा।

पाँच कारण का अत्यंत रसप्रद विषय जाना। यह बराबर ध्यान में रखकर अब गफलत मत करना कि, 'जैसी भवितव्यता हो, वैसे कर्म उत्पन्न होते है, भवितव्यतानुसार पुरुषार्थ होता है' यह तमाम गफलत है, गलत विधान है, क्योंकि तमाम कारण को अपना स्वातंत्र्य है, अपनी खासियत है, विशेषता है।

जैसे मात्र भवितव्यता कार्य नहीं करती; वैसे मात्र कर्म भी कार्य नहीं करते। अत: धर्म का पुरुषार्थ करने की बात हो, तब जैसे यह नहीं कह सकते कि, 'भवितव्यता में लिखा होगा, तो धर्म का उद्यम होगा,' वैसे यह भी नहीं कह सकते कि, 'कर्म का उदय होगा, तो धर्म होगा,' 'भाग्य में होगा, तो पाप छूटेगा।' यह नहीं कह सकते। क्यों? दो कारण है :

(१) मोहनीय कर्म अंतर में पापबुद्धि यानि राग-द्वेषादि और हिंसादि पाप के भाव जागृत करता है इतना ही;

(२) अन्य कर्म योग्य-अयोग्य सामग्री का योग करवाते है इतना ही;

किन्तु तत्पश्चात् उस पर पाप का विचार करना, या पाप के वचन कहना या पापप्रवृत्ति करना; वह पुरुषार्थ का कार्य है।

वैसे ही पापविचार-वचन-वर्तन को रोकना और धर्म के विचार-वचन-वर्तन करना भी पुरुषार्थ का कार्य है।

अलबत, पाप का भाव मोहनीय कर्म जागृत करता है, किन्तु धर्म का भाव जागृत करने हेतु तो मोहनीय कर्म को तोडना पडता है; और उसे तोडने हेतु

सत्संग-धर्मश्रवण-दानादि साधना और देवदर्शनादि जिनभक्ति आदि धर्मप्रवृत्ति का पुरुषार्थ करना पडता है। यह विवेक ज्ञात होगा, तभी जीवन नंदनवन बनेगा।

कामलता इस विवेक को नहीं समझ सकी, अत: जब चरवाहा उसे अपनी पत्नी बनाने हेतु लालायित कर रहा है, तब वह यह सोचती है कि, 'मेरे भाग्य में अभी भी पापकार्य लिखे है, तभी तो जलती हुई चिता भी बुझ गई और अब यह संयोग प्राप्त हो रहा है।'

कैसा अनुचित विचार? भले ही कर्म ने चिता बुझा दी और यह संयोग प्राप्त करवाया, किन्तु अब कर्म पाप करते हेतु धकेल तो नहीं रहा; वहाँ तो स्वयं पाप का पुरुषार्थ करने पर ही पापाचरण होता है; वह पुरुषार्थ ना करना हो, तो पापप्रवृत्ति नहीं होती।

१४. रहस्यभेद

कामलता चरवाहे की पत्नी :

कामलता पतित हुई, चरवाहे की पत्नी बन बैठी। उसके घर के कार्य करने लगती है। दूध-दहीं बेचने जाती है और उसके साथ विषयसेवन का आनंद उठाती है।

इस जीव की विषयभूख भी कब शांत होगी? कितने भी सुख प्राप्त हो, कितनी उम्र तक प्राप्त हो और कितने भवों तक प्राप्त हो, तो विषयभूख समाप्त होगी? जवाब है : उसकी कोई सीमा ही नहीं है।

विषयभूख तभी समाप्त होती है, जब उसे समाप्त करने की तीव्राभिलाषा-आतुरता हो; और इस हेतु विषयों को विष की तरह देखा जाये। फिर उसका त्याग होता जाये, संयम पालन होता जाये, वैसे-वैसे विषयभूख शांत होती जायेगी।

तृष्णा त्याग से समाप्त होती है, भोग से नहीं।

पुनः पुत्र से मिलन :

कामलता अब चरवाहन बनकर नगर में दूध-दहीं बेचने जाती है। यहाँ भी संयोग बनते है कि उसका पुत्र वेदविचक्षण इसी नगर में आ कर राजा के पंडित पुरोहित के रूप में स्थापित होता है।

एक बार कामलता सर पर दहीं की मटकी रखकर मार्ग से गुजर रही थी, तभी एक स्त्री सर पर पानी की मटकी रखकर सामने से आ रही थी, वह स्वयं की या अन्य की गलती के कारण कामलता से टकरा गई। दोनों की मटकी जमीन पर गिरते ही तूट गई। वहीं पानीवाली स्त्री अत्यंत रुदन कर रही है, जबकि कामलता हँसती है।

तत्समय वेदविचक्षण पंडित निकट से गुजर रहा था, वह यह दृश्य देखकर सोचने लगा कि, 'यह क्या? पानी की मटकी टूट गई, वह स्त्री रो रही है और दहीं की मटकी टूट गई, वह स्त्री हँस रही है !'

पानीवाली स्त्री को वह पूछता है : 'बहन ! पानी के नुकसान से इतना आक्रंद क्यों कर रही हो?'

स्त्री कहती है : 'भाई ! मैं पानी की वजह से नहीं रो रही। मात्र पानी का नुकसान होता, तो पुनः कुए पर जा कर पानी ले आती। किन्तु यहाँ तो मेरी मटकी फूट गई, अतः मेरी कठोर सास मुझे घर में नहीं आने देगी, इसलिए रो रही हूँ।'

पंडित तो दया आने पर वह तुरंत नई मटकी खरीदने हेतु पैसे देता है, और उसे खुश करके भेज देता है।

अब वह कामलता को पूछता है : 'बहन ! तमाम दहीं गिरने के बावजुद तु क्यों हँस रही है?'

कामलता कहती है : 'अति दुःखी को भी क्या दुःख?'

सवाल होगा कि दोनों ने एकदूसरे को पहचाना नहीं? नहीं।

कामलता को पंडित नहीं पहचान पाया; क्योंकि पंडित ने पूर्व के समय में उसे देखा था, तब वह अप टु डेट रेशमी वस्त्र और अलंकार से सुसज्ज वैश्या के रूप में थी; और यहाँ उसे चरवाहन के वेश में देखता है। पूर्व की वैश्या वर्तमान में चरवाहन बन जायेगी; यह कल्पना भी कैसे हो सकती है?

और कामलता पंडित को नहीं पहचान पाई, क्योंकि पूर्व में वह वैश्या कामलता के पास पंडित के वेश में नहीं जाता था; क्योंकि लज्जा लगती।

कोई देखता, तो बोलता कि,

'अरे ! आप पंडित हो कर भी यह अधम कृत्य कर रहे हो?' अतः शर्मसार हो कर किसी सामान्य वस्त्र में तिलकरहित जा रहा होगा। जो अब यहाँ तो मस्तक पर श्रेष्ठ जरियान पट्टीवाली पघडी, ललाट पर चंदन की रेखाओं के

साथ तिलक, विशाल अंगवस्त्र, उपर रेशमी दुपट्टे का खेस, पैरों में चमकीली लाल-लाल मोजडी; ऐसे वेश में कामलता कैसे पहचान पायेगी?

कामलता को पूछता है : 'बहन ! आपको इतना ज्यादा क्या दु:ख है कि यह मटकी में भरपूर दहीं का नुकसान होने के बावजुद वह दु:ख नहीं लगता।'

कामलता चरवाहन उसे उत्तम दयालु और गंभीर ब्राह्मण के रूप में देखकर अपना मन हल्का करने हेतु कहती है : 'आपको जानना ही है तो चलो इस बगीचे में, आपको मेरी करम-कहानी कहती हूँ।'

पंडित को भी रुचि पैदा हुई और साथ ही उसके दयालु मन में भी हुआ कि, 'इसकी दास्तान सुनने पर शायद उसका दु:ख टालने हेतु मैं कुछ कर पाऊँ। परोपकार करने की तक प्राप्त हो सकती है।'

स्वार्थी जीव स्वार्थ का अवसर देखता है, परार्थी जीव परार्थ का।

कौन ज्यादा जीता है? स्वार्थी या परार्थी? :

स्वार्थी तामसभाव में प्रवृत्त रहनेवाला कहा जाता है; और
परार्थी परोपकारी और सात्त्विकभाव में प्रवृत्त रहनेवाला कहा जाता है।

हम किसमें है? मात्र स्वार्थमाया के तामसभाव में? या परार्थवृत्ति के सात्त्विकभाव में? इसका निष्कर्ष इस बात से तय होगा कि हम कौन सा अवसर देख रहे है ! स्वार्थ सेवन का? या परार्थ सेवन का?

जीवन इस तरह भी पूर्ण हो सकता है और उस तरह भी। परार्थ-परोपकार का अवसर देखनेवाले और संभवत: अन्यों का भला करनेवाले कोई जल्दी नहीं मरनेवाले ! वैसे स्वार्थसाधु भी कोई विशाल जीवन नहीं जीनेवाले। आयुष्य तो दोनों को होता है वही जी सकेंगे।

शायद संभव है कि : स्वार्थ की माया ही जिसके भीतर भरी पडी है, उसे कभी वह आक्रमक स्वार्थभंग दिख जाये और शायद हृदयघात का उपक्रम हो कर आयुष्य का जल्दी समापन होना संभव हो सकता है। परार्थी जीव को यह संभव नहीं। स्वार्थ टूटा तो टूटा, उसका ज्यादा दु:ख नहीं और शायद परार्थ गँवाने का अवसर हुआ, तो उसका दु:ख मृत्यु नहीं देगा।

बात यह है :

जीवन में किस अवसर की प्रतीक्षा करनी है? और कौन-सी प्रवृत्ति करने की इच्छा रहती है? स्वार्थ की या परार्थ की?

क्या तिर्यंच के जीवन में परार्थ का अवसर खौजना या प्रवृत्ति करना प्राप्त होता है? मजदूरी तो अत्यंत होती है, श्वान रात्रिभर चौकी करता है, किन्तु वृत्ति कौन सी? मालिक कुछ ना कुछ भोजन देता रहे, यही ना?

परार्थ की वृत्ति का अर्थ है कि सामनेवाले से कोई लाभ ग्रहण करने की अपेक्षा ना हो और स्वयं को सामनेवाले का कुछ भला करने का लाभ चाहिये, सामनेवाले की सेवा का लाभ चाहिये। यही परार्थवृत्ति हृदय को महान बनाती है।

परार्थवृत्ति के महान हृदय में पाप अल्प होते है; उसे स्वार्थ की कमी का विशेष दु:ख नहीं होता; बल्कि स्वार्थत्याग की तैयारी होने पर वह प्रफुल्लित रह सकता है।

तीर्थंकर परमात्मा के जीव की विशेषता बताते हुए ललितविस्तरा शास्त्र में लिखा है कि, '**आकालमेते परार्थ-व्यसनिन:।**' परमात्मा मूलत: परार्थ के व्यसनी होते है।

'व्यसन' समझते हो ना? जिसकी प्रगाढ रुचि हो, जिसके बिना चैन ना मिले, जिसकी प्राप्ति से विशिष्ट आनंद हो; वह है व्यसन। चाय, बीडी, शराब के व्यसनी कैसे होते है? इस प्रकार परार्थ के व्यसनी और स्वार्थ को गौण बनानेवाले होते है परमात्मा।

आत्मा का उत्थान करना हो, तो स्वार्थ को गौण करो। स्वार्थ को गौण बनाना सिखना है और परार्थ को व्यसन बनाने हेतु मेहनत करनी है, मन में परार्थवृत्ति को स्थान देना है। इतनी उच्चता प्राप्त की, पढे-लिखे, देवदर्शनादि धर्म अनेक किये, किन्तु यदि परार्थवृत्ति ही प्राप्त ना हुई, तो आत्मा अधमता में से कैसे उत्थान कर पायेगा?

मात्र स्वार्थ के रसिक तो नराधम है। इस अधमता से उपर उठने हेतु 'जयवीयराय'

सूत्र में प्रतिदिन परमात्मा के सन्मुख 'परत्थकरणं च' परार्थ-करण की याचना की जाती है। पूछो,

प्रश्न : क्या परार्थकरण प्रभु के सन्मुख माँगने मात्र से मिल जाता है? या हम स्वयं परार्थकरण करेंगे तभी होगा?

उत्तर : श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज कहते है : '**प्रार्थनात एव इष्टसिद्धिः**' प्रार्थना से ही इष्ट की सिद्धि प्राप्त होती है। प्रभु के सन्मुख याचना करने से इष्ट वस्तु प्राप्त होती है।

समझना, यह कहनेवाले भी महान तार्किक है, बावजुद भी अरिहंत परमात्मा के प्रति इस तरह प्रचंड श्रद्धा धारण करते है, कि प्रभु के सन्मुख याचना करने से इष्ट की प्राप्ति होती है। लोक क्या समझकर यह कहता है? यह समझकर कि,

प्रार्थना से इष्ट की सिद्धि कैसे? :

वास्तविक प्रार्थना तभी होती है, जब प्रार्थित वस्तु की हमारे मन में भारी आशंसा हो, अपेक्षा-अभिलाषा-तमन्ना हो।

'प्रभु ! आपके अचिंत्य प्रभाव से मुझे परार्थकरण प्राप्त हो,' इस प्रकार प्रार्थना करते समय गर्भित यह है कि, 'मुझे परार्थकरण चाहिये, अवश्य चाहिये। मैं उसके बिना नहीं रह सकता। मुझे उसकी विशेष आवश्यकता है।'

परार्थकरण का यह आशंसाभाव, इस तीव्र इच्छा की तिलमिलाहट प्रचंड पुरुषार्थ को प्रगट करती है। तीव्र इच्छा-आशंसा के बिना भारी पुरुषार्थ नहीं हो सकता। वस्तु की जितनी तीव्र तालावेली हो, उतना उसका प्रचंड पुरुषार्थ प्रगट होता है और वह होने पर इष्ट वस्तु की सिद्धि होती है।

स्त्रीयों को रसोई बनाने में और पुरुषों को नौकरी-व्यापार में तीव्र तालावेली होती है, तो वह उसका प्रचंड पुरुषार्थ करते है ना? और वह होने पर इष्ट की प्राप्ति होती है ना?

हृदय से प्रार्थना में, हृदय में यह तीव्र आशंसा, आतुरता होने पर वह पुरुषार्थ करवाकर इष्ट की सिद्धि करवाती है; इस तरह एक अपेक्षा से प्रार्थना से

इष्ट की सिद्धि होती है; यह एक प्रकार से 'प्रार्थना से इष्ट सिद्धि' की बात हुई।

अब दूसरी तरह प्रार्थना से इष्ट सिद्धि इस प्रकार, कि जिन अरिहंत परमात्मा के सन्मुख प्रार्थना की जाती है, वह परमात्मा अचिंत्य अनंत प्रभाववंत है, तो उनके प्रभाव पर अथाग श्रद्धा रखने से हमारे महान अंतरायकर्म भी टूट जाते है। इस तरह इष्ट के मार्ग में आनेवाले अंतराय नष्ट हो कर इष्ट अति सुलभ बन जाता है।

प्रश्न होगा कि क्या अरिहंत परमात्मा में यह अनंत अचिंत्य प्रभाव है? हाँ, अवश्य है। तभी तो अन्य देव-देवी के कितने भी दर्शन-पूजन-स्मरण-गुणगान और ध्यान व आज्ञापालन करने पर भी जो फल प्राप्त नहीं होता, वह अचिंत्य अर्थात् हमारी कल्पना से भी परे हो ऐसा विशाल फल श्री अरिहंत प्रभु के दर्शन-पूजन-स्मरण-गुणगान और ध्यान व आज्ञापालन से प्राप्त होता है। यह तभी प्राप्त होता है, जब प्रभु में कोई अचिंत्य प्रभाव हो।

राजा रावण ने अष्टापदजी पर प्रभुभक्ति की, तब वहाँ पधारे धरणेन्द्र देव ने उस भक्ति से प्रसन्न हो कर रावण को भक्ति के फल स्वरूप कुछ भी माँगने का अवसर प्रदान किया और स्वयं ने वह प्रदान करने का आग्रह किया।

रावण ने कहा : 'मुझे भक्ति में जिस फल की अपेक्षा है, वह देने हेतु आप समर्थ नहीं हो और जो आप प्रदान करने में समर्थ हो, वह तो तुच्छ है, उसे भक्ति का फल मैं नहीं मानता, और भक्ति के फल स्वरूप मुझे वह नहीं चाहिये।'

धरणेन्द्र को इस बात का स्वीकार करना ही पडा; क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि वीतराग की भक्ति का फल तो मोक्ष है, वह प्रदान करने हेतु स्वयं समर्थ नहीं है। और जो लौकिक ऋद्धि-समृद्धि आदि स्वयं प्रदान कर सकते है, वह भी वीतराग की भक्ति की उच्चता के प्रमाण में फल नहीं है।

तब यह विवेक करना है कि उस सर्वोच्च फल में विशिष्ट योगदान किसका है? प्रभुभक्ति के पुरुषार्थ का? या प्रभु का? पुरुषार्थ का योगदान अवश्य है, किन्तु विशिष्ट योगदान तो वीतराग अरिहंत परमात्मा का ही है। क्योंकि वही

पुरुषार्थ अन्य देव-देवी की भक्ति करने में लगाया जाये, तो उससे सर्वोच्च फल प्राप्त नहीं होता। इस बात से ज्ञात होता है कि,

भक्ति की शक्ति से भी ज्यादा भक्ति के विषय की शक्ति का विशिष्ट महत्त्व है।

अत: भक्ति का विषय अर्थात् जिनकी भक्ति हो रही है, वह अरिहंत ही सर्वोच्च फल प्रदान करने हेतु समर्थ है।

मंत्र में क्या है? यही, कि किसी मंत्र का स्मरण करने से कुछ फल प्राप्त होता है; वहाँ शक्ति किस की मानी जायेगी? मंत्र के स्मरण की? या मंत्र की? यदि मंत्र की ही शक्ति ना हो, तो उसका स्मरण कितना भी करो, क्या प्राप्त होगा? वैसे जिस मंत्र की यह शक्ति नहीं, उसका भरपूर स्मरण भी विशिष्ट मंत्र के स्मरण की तरह फल कैसे प्रदान करेगा?

अंतकाल में नमस्कार महामंत्र पर ध्यान लगाया जाता है, जिससे जीव को उच्च सद्गति आदि फल प्राप्त होते है, वह फल अन्य मंत्रों का ध्यान करने से प्राप्त होगा क्या? यदि नहीं, तो अर्थ यही हुआ कि विशिष्ट शक्ति हम ध्यान-स्मरण का पुरुषार्थ करते है, ध्यान-स्मरण करते है उसकी नहीं, किन्तु नमस्कार महामंत्र की ही समझनी चाहिये।

जैसे मंत्राक्षरों में अचिंत्य शक्ति, वैसे अरिहंत परमात्मा में अचिंत्य शक्ति है। पंचसूत्र शास्त्र में कहा है : '**अचिंतसत्तिजुत्ता हि ते भगवंतो वीयराया सव्वण्णु**' वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा अचिंत्य शक्तिवान, अचिंत्य प्रभाववंत है।

अग्नि को विधिपूर्वक प्रगट करने पर उसके द्वारा भोजन तैयार होता है। तो यह महिमा किस की? विधिसर सेवन की? या अग्नि की? भोजन की ताकात अग्नि ही मानी जाती है। भोजन में अग्नि असाधारण कारण माना गया है। फिर भले ही उसका विधिपूर्वक सेवन करने पर ही रसोई तैयार होती है; किन्तु विशिष्ट ताकात किसकी है? अग्नि के सेवन की या अग्नि की? अग्नि ही विशिष्ट ताकात मानी जाती है। वैसे अरिहंत परमात्मा की विधिपूर्वक सेवा करते है, तो उच्च फल प्राप्त होते है, तो यहाँ विशिष्टता किसकी? सीधी बात है, परमात्मा की ही विशिष्टता मानी जायेगी।

इस तरह कहते है कि, 'हे वीतराग ! आपके प्रभाव से मुझे परार्थकरण प्राप्त हो।' परार्थकरण, भले ही हमारे पुरुषार्थ करने पर होता है, परंतु उसके होने में अचिंत्य शक्ति, अचिंत्य प्रभाव वीतराग परमात्मा का है। प्रार्थना करने के पीछे प्रभु का यही प्रभाव होने की श्रद्धा तो मन का उत्तम कक्षा का अध्यवसाय है, सम्यग्दर्शन का भाव है; और उससे ही महान अंतराय क्षय हो कर इष्टसिद्धि की प्राप्ति होती है; इस तरह प्रार्थना से इष्टसिद्धि मानी जाती है।

इस तरह, हमारा एक तीव्र आशंसाभाव और दूसरा अरिहंत का अचिंत्य प्रभाव; इन दोनों के बल पर 'प्रार्थना से ही इष्टसिद्धि होती है' यह कथन हुआ। जिसमें परार्थकरण की याचना की गई।

पंडित चरवाहन के साथ बगीचे में :

वेदविचक्षण ब्राह्मण स्वार्थ से ज्यादा परार्थ को देखता है; तभी तो पनिहारी को उसके फूटे घडे के लिये पैसे प्रदान करके एक परार्थकरण किया और अब चरवाहन जब 'अति दु:खी को क्या दु:ख?' यह बात अपने दहीं से भरे मटके के फूटने पर बोलती है और स्वयं की दास्तान कहना चाहती है, तब परार्थ-परोपकाररसिक वेदविचक्षण पंडित सोचता है कि,

'इसका दु:ख तो सुन लूँ, और अगर मुझ से इसका कुछ भला हो तो करूँ।' यह सोचकर वह चरवाहन के साथ बगीचे में जाता है, और वहाँ बैठकर उसकी आपवीती सुनने तैयार हो जाता है।

योगानुयोग भी कैसा है ! पूर्व में वैश्या के सन्मुख पंडित को अपना जीवन प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त होता है, और अब पंडित के सन्मुख चरवाहन को अपना जीवन प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त होता है। यह योगानुयोग कौन बनाता है? भवितव्यता।

भवितव्यता के इस प्रकार अनेक विचित्र भाव होते है, जिसके लिये 'ऐसा क्यों हुआ?' उसका नियमानुसार अन्य कोई कारण नहीं होने से यही कहा जाता है कि, 'भवितव्यता ही ऐसी थी कि यह हुआ।' अत: भवितव्यता को भी एक कारण कहना पडता है।

भवितव्यता बलवान है; वह विचित्र घटना का सृजन कर देती है।

उसमें मानवी ने सोचा हुआ कुछ भी नहीं होता। सुख-दुःख के कारण में भले कर्म हो, किन्तु मानवी की सोच के बाहर विशिष्ट प्रकार का योगानुयोग बनानेवाली तो भवितव्यता है।

यह ध्यान में रहे, तो आपको कोई भी दुःख प्राप्त हुआ और वह भी कुछ प्रकार के सोचे भी ना हो ऐसे संयोग से प्राप्त हुआ, तब तुरंत मन में समाधान हो जायेगा कि, 'दुःख मेरे ही अशुभ कर्म से प्राप्त हुआ है, और उसमें निमित्तभूत यह सोचा ना हो ऐसा संयोग प्राप्त हुआ; वह भवितव्यता से हुआ। भवितव्यता ही बलवान है, जो उसने यह संयोग बनाया।'

उदा. मेरा फूटपाथ पर चलना, और उसी वक्त ड्राईवर के हाथों मार्ग पर चल रहे बालक को बचाने हेतु मोटरकार को फूटपाथ पर चढा देना, इसमें मैं किसी और को दोष क्यों दूँ कि उसने मुझे पीडा दी? वह बिचारा तो भवितव्यता का मोहरा बन गया, जो भवितव्यता ने उसके द्वारा यह घटना करवाई।

मन से समाधान करने हेतु भवितव्यता की समझ अत्यंत उपयोगी है, जिससे मन को असमाधि ना हो।

कई लोग बात-बात में गर्म हो जाते है, मामूली बातों में भी जलते कोयले की भाँति तट-फूट तट-फूट करते है। उसके घर में रहनेवाले सभी परेशान होते है और यही इच्छा करते है कि, 'यह बाहर ही रहे, तो अच्छा है। घर में रहेंगे, तो बात-बात पर क्रोध करते रहेंगे।'

कैसी करुण दशा ! स्वयं धन उपार्जन करके लाते है, परिवार का पोषण कर रहे है, फिर भी परिवार को अप्रिय है ! यह करुण दशा नहीं है क्या? किस पर? उस क्रोधित स्वभाव पर ही तो।

तब जो उस व्यक्ति में यह समझ हो कि, 'घर में कुछ स्वयं को नापसंद घटना बनी, तो वह भी सोचा ना हो ऐसे संयोग में ही बनी, तो उसमें दोष भवितव्यता का है। भवितव्यता ही है, जो यह योग बनाती है और बालक के द्वारा या उसकी माता के द्वारा यह घटना बन गई।'

बालक या माता का कुछ गलत करने का इरादा तो है ही नहीं, तो फिर यह घटना क्यों बनी? भवितव्यता ने ही यह खास योग बना दिया।

भवितव्यता से मन का समाधान करना सिख लिया, तो क्रोधावस्था पर नियंत्रण भी कर पायेंगे।

यहाँ योगानुयोग हुआ कि कामलता चरवाहन ही अब जिसे पहचाना नहीं वह अपने ही पुत्र पंडित के सन्मुख अपनी हकीकत कहने लगी। जैसे जैसे वह बोलती जाती है, वैसे वैसे पंडित को भी समझ आता है कि वह उसके माता की ही हकीकत प्रतीत हो रही है !

चरवाहन को भी कल्पना ही नहीं थी कि वह उसीका पुत्र है। वह तो उसे उत्तम पंडित के स्वरूप में देखती है, अत: मन को हल्का करने अपने तमाम पाप कह देती है।

चरवाहन की कहानी का सार :

उसमें 'मैं ब्राह्मणी, दो वर्ष का पुत्र घर में रखकर पानी भरने गई थी, दुश्मन राजा के सेवकों ने मेरा अपहरण किया...' इत्यादि बातें कहते-कहते जैसे ही 'वैश्या बनी और मेरा ही पुत्र ग्राहक के रूप में आया और अंत समय तक मैंने उसे पहचाना ही नहीं, किन्तु जाते-जाते उसने अपनी हकीकत बताई, वह भी मेरे कुछ पूछने पर ही कही; किन्तु उसने अपनी जो पहचान बताई, उसके द्वारा मैंने उसे जान लिया और मुझे अत्यंत दु:ख हुआ कि, 'हाय ! यह तो मेरा ही पुत्र है !' किन्तु उसे दु:ख ना हो, इसलिए मैंने उसे अपनी पहचान नहीं दी।'

चरवाहन ने जब यह बात बताई, तब पंडित को भी ज्ञात हो गया कि वह उसकी माता ही है, और इस तरह भयानक दुर्दशा में उसका पतन हुआ, वैश्या बनी और स्वयं भी उसके साथ विषयसुख करने लगा था।

पंडित को अपार दु:ख हुआ कि, 'स्वयं उच्च मानवभव को प्राप्त करके कैसी अज्ञान पशु जैसी अधमाधम कक्षा के अपकृत्य तक पहुँच गया !

शास्त्रों ने आर्य मनुष्य को परस्त्रीगमन-वैश्यागमन अधमाधम कृत्य मानकर

अत्यंत त्याज्य कहा है, तो मातृगमन तो कैसा महा अधम कृत्य ! मैंने यह क्या कर दिया?'

कामलता की कहानी अभी भी बाकी है, अतः पंडित स्वयं दुःख को भीतर में दबाकर आगे की बात सुनता है। पश्चात् कामलता ने स्वयं का चिता में जलकर मर जाने का आत्महत्या का प्रयत्न, वर्षा, आग का बुझना, स्वयं पानी के बहाव में डुब जाना, चरवाहे द्वारा उसका बचाव और स्वयं चरवाहन बनने तक की घटना बताई और कहती है :

'भाई ! अब बताओं, इस प्रकार भयानक पाप करके अत्यंत दुःख को प्राप्त करनेवाली मुझे, उन दुःखों के सामने यह मटकी फूटने का दुःख कितना बडा है? मटकी फूटने का कोई दुःख नहीं, किन्तु इन भयंकर पापों से परभव में मेरी क्या गति होगी?...' यह बोलते-बोलते उसका मन भर गया, आँखों से अश्रुपात बहने लगा। वह कहती है :

'अब तो मेरे पापों की भी कोई सीमा नहीं रही, पृथ्वी मेरे भार से मर रही है। आप उत्तम पुरुष हो, उस पनिहारी को भी आपने मदद की। उस तरह मुझे भी मदद कर दो, मुझे कहीं से जहर ला कर दो, तो उसे खा कर मैं यहीं मर जाऊँ।'

पंडित को चूपचाप देखकर कहती है : 'आप क्यों विचारमग्न हो गये? क्यों कुछ बोल नहीं रहे? मेरे पापों को मत देखो। आप इतना दयाकार्य कर दो, जहर प्रदान कर दो।'

पंडित कहता है : 'माँ ! मैं तुम्हारे पाप पर क्या दुःख जताऊँ? मैं स्वयं कैसा पापिष्ठ हूँ जो मातृभोगी बना ! तु वैश्या थी, तब मैं ही तुम्हारे पास आया था। तु तो अभ्यासी नहीं, किन्तु मैं तो वेदशास्त्र का अभ्यासी हूँ, बावजुद ऐसा वैश्यागामी नीच पापिष्ठ बना? अज्ञानी जीव पाप करे, वह तो निर्दोष है, दयापात्र है। किन्तु मैं तो ज्ञानी होने के बावजुद यह घोर पाप करनेवाला बना, तो मैं दयापात्र नहीं, किन्तु महर्षियों के तिरस्कार के पात्र हूँ।'

पंडित आगे बोलता है : 'मैं छोटा था, तब तु मुझे छोडकर चली गई।

अत: मैंने तुझे माता के स्वरूप में पहचाना ही नहीं, इसलिए विशेष अनर्थ हो गया। अब, तु मेरी माता, मैं तेरा पुत्र, हम दोनों पापासक्त हुए, किन्तु माँ !

जहर खा कर मरने से पाप नहीं मरते। पाप को मारने हेतु तो प्रायश्चित्त की आवश्यकता है।

तो उठ, यहीं समीप में साधु भगवंत पधारे है, हम दोनों उनके पास जा कर हमारे पापों को नष्ट करने हेतु पाप का प्रायश्चित्त पूछते है। यही मात्र उपाय है। अत: उठ, हताश ना हो।'

१५. कामलता का उद्धार

कामलता आचार्य महाराज के पास :

कामलता को आश्वासन मिला, दोनों उठे और उद्यान में पधारे जैनाचार्य के पास गये। उनको नमस्कार करके पंडित बोलता है : 'पुत्रभोगी माता और मातृभोगी पुत्र को पाप से शुद्ध करने हेतु आपके शास्त्र में कोई उपाय है? या अब दोनों को निश्चित नरक में जाना पडेगा?'

आचार्य भगवंत कहते है : 'यह तो क्या? इससे भी बदतर भयावह कोटि के पाप करनेवाले को भी अभी जीवन हाथ में है, तब तक पापों के शुद्धिकरण का मार्ग है।'

'इस महामूल्यवान मानवजन्म की यही तो विशेषता है कि उसमें घोर पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है और पूर्व जन्मों के पापों को भी तप-संयम से साफ किया जा सकता है।'

पंडित पूछता है : 'उसका उपाय क्या है?'

आचार्य भगवंत कहते है : 'सर्वप्रथम तो योग्य शास्त्रज्ञ गुरु के सन्मुख बालसहजभाव से अपने पापों की आलोचना करनी चाहिये और गुरु जो प्रायश्चित्त प्रदान करें, उसका वहन करना चाहिये।'

वहीं कामलता और पंडित बिना संकोच के अपने पापों की यथास्थित कहानी कहते है और पूछते है कि : 'हे भगवंत ! ऐसे घोर पापिष्ठ हमारा उद्धार कैसे होगा? फिर भी आप ज्ञानी है, हमारा उद्धार करने की कृपा करें। हम इन पापों से त्रस्त हो चुके है।'

घोर पाप में प्रायश्चित्त का मार्ग :

आचार्य महाराज कहते है : 'यदि आपको वास्तविकता से पापमात्र के प्रति नफरत है, तो यह पापभरा संसारवास का त्याग करो और सर्व पापत्याग की प्रतिज्ञा करके निष्पाप चारित्रजीवन अंगीकार करो। फिर सुंदर अहिंसा-संयम-तपोमय जीवन व्यतीत करो, आपके तमाम पापों का प्रायश्चित्त होगा और आपका उद्धार अवश्य होगा।'

यह कहकर आचार्य भगवंत ने

- सूक्ष्म अहिंसा-संयम-तप का स्वरूप समझाया,
- जगत को उसका उपदेश देनेवाले देवाधिदेव परमात्मा श्री तीर्थंकर भगवंत की पहचान करवाई,
- परमात्मा ने बताये हुए जीव-अजीव आदि नवतत्त्व और सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग बताया।

वेदशास्त्रों में जैन सूक्ष्म तत्त्व-मोक्षमार्ग का कोई उल्लेख ही नहीं :

पंडित वेदविचक्षण तो यह सब सुनकर थम-सा गया। सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोद एकेन्द्रिय तक जीवों का विज्ञान, उनकी वास्तविक अहिंसा अर्थे जरूरी सर्वविरति मार्ग और चारित्र जीवन की समिति, गुप्ति के आचार आदि सुनकर आश्चर्यचकित हो गया कि, 'अहो ! यह तो कैसा विशाल तत्त्वज्ञान ! वेदशास्त्रों की बातें बडी होती है, किन्तु उसमें कहीं भी इस तत्त्वज्ञान की बातें ही नहीं है।'

'सर्वज्ञ के बिना कौन यह सब कह पायेगा? तो अज्ञानी द्वारा प्रदत्त तत्त्व में पूर्णता भी कैसे होगी? और वह भवसागर से बाहर निकलने का वास्तविक मार्ग भी कैसे बता पायेगा?'

कामलता तो इतनी ज्ञानी नहीं थी, किन्तु आचार्य महाराज ने जैनधर्म की 'एक और एक = दो' जैसी सीधी बातें समझाई, वह तमाम बातें उसे समझ आ गई।

कामलता का उद्धार :

बस, माता-पुत्र ने कर्तव्य तय कर लिया और वहीं संसारत्याग करके चारित्रजीवन का अंगीकार किया। नजरों के सामने अपने उग्र पाप दृश्यमान हो रहे है, अत: उन्हें संपूर्णतया नष्ट करने हेतु कठोर संयम, परीषहसहन, उग्र तपस्या और ज्ञान-ध्यान के मार्ग में प्रवृत्त हो गये; घोर पापों का उसी जीवन में नाश कर दिया।

पाप करते वक्त सत्त्व गँवाया था, तो अब धर्म करने वक्त प्रचंड सत्त्व का विकास किया। अब तो इस सत्त्व विकास से भरपूर साधना की प्रचंड अग्नि में पाप जलकर राख हो जाये, इसमें क्या आश्चर्य?

नया लक्ष्य... नया कदम... नया परिणाम...

सर्वप्रथम

टेब्लेट पाठशाला

आपके बच्चे धार्मिक अभ्यास करने को तैयार है!

अनेरा – आकर्षक – अद्‌भुत

अब पढ़े अपनी ही मनपसंद दुनिया में!

Smart Learning Pathashala

मेरी Pathashala

टेक्स्ट बुक – यह सूत्र, अर्थ, चित्र, याद करना और लिखना; सिखाती है।

ओडियो बुक – यह संपूर्ण सूत्रों को शुद्ध उच्चार के साथ सुनाती है।

विडीयो बुक – यह सूत्रों के रहस्यों और महत्त्व को समझाती है।

एक्ज़ामिनेशन – यह सूत्रों–अर्थ की एक्ज़ाम भी लेती है और रिजल्ट भी देती है।

जनरल नोलेज – यह स्तुति–स्तवन–पूजाविधि आदि का ज्ञान ओडियो–विडीयो के माध्यम से देता है।

स्टोरी बुक – यह चटपटी कहानियों को सुंदर चित्रों के साथ मजा कराती है।

गेम्स – **KBG,** हाउसी आदि गेम्स के द्वारा मौज भी कराती है।

याद रखिए... भूल न जाना,
नहीं तो पस्तायेंगे।

contact: 09586123446

JAIN ONLINE.ORG

JAINONLINE.ORG

ધર્મ અને વિજ્ઞાનનું એક અનોખું પ્લેટફોર્મ

8425090907 / 95861 23446

"Jainonline" , &

Get Great teasure of **Jain Shasan**

દર શનિવાર

લાઈવ કોમ્યુનિકેશન દ્વારા જાણો
અવનવી જાણવા જેવી વાતો

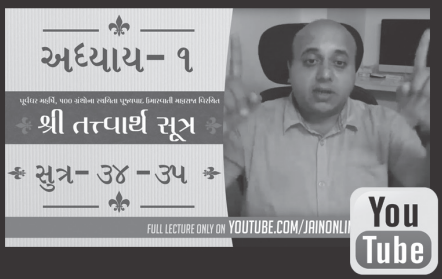

ગુરુનો સાર
દર ગુરુવાર

સૌપ્રથમ Digital Syllabus

SMART LEARNING PATHSHALA

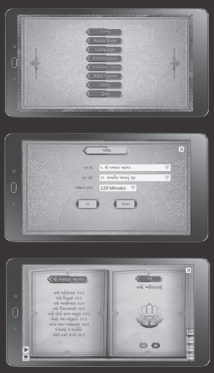

સૂત્રોને ડિજિટલ માધ્યમે ભણવા, ગોખવા,લખવા-અર્થો સમજવા-ચિત્રો માણવા...ની સાથે સાથે સૂત્રોની પરીક્ષા-ઓડિયો બુક-વિડીયો બુક-જનરલ નોલેજ-પૂજાવિધિ-સ્ટોરી ,ગેમ્સ અને ઘણું બધુ...

Audio Book

JAINONLINE

www.jainonline.org | info@jainonline.org

JAIN ONLINE.ORG

JAINONLINE.ORG

ધર્મ અને વિજ્ઞાનનું એક અનોખું પ્લેટફોર્મ

8425090907 / 95861 23446

"Jainonline" , &

Get Great teasure of **Jain Shasan**

Children Stories

Books & Animated Stories

શું આય જાણો છો આમને?

અહો આશ્ચર્યમ્ !!!

ધેર બેઠ બેઠ ભવ્ય તીર્થોના દર્શન

Games

आज ही Google Play-Store से K.B.G. ऐप (फ्री) डाउनलोड कर अपना रजिस्ट्रेशन कर लिजिए ।

आज ही Google Play-Store से JAIN Housie ऐप (फ्री) डाउनलोड कर अपना रजिस्ट्रेशन कर लिजिए ।

જૈન હાઉસી (Pocket Game)

પરમાત્મા શ્રી પાર્શ્વનાથ, શ્રી આદિનાથ તથા શ્રીપાલ મયણાના જીવનને જાણો ગમ્મત સાથે ...

www.jainonline.org | info@jainonline.org

जैन हाउसी

मनुष्यजीवन के दुर्लभ समय को 'फैल' करनेवाली टाइमपास हाउसी को बाय-बाय करें,
जैनधर्म के तत्त्व, तीर्थंकर के जीवनचरित्रों पर आधारित 'जैन हाउसी' का स्वागत करें।

प्रभु पार्श्वनाथ के जीवन को जानें,
गेम के माध्यम से

श्रीपाल-मयणा और नवपद के गूढ रहस्यों को जानें,
गेम के माध्यम से

Now Available on
Google Play

यह मीठाई में छुपाई हुई दवाई जैसा है,
जो गेम के कोटिंग में तत्त्वज्ञान की दवाई देता है।

JAINONLINE.ORG
8425090907 / 95861 23446